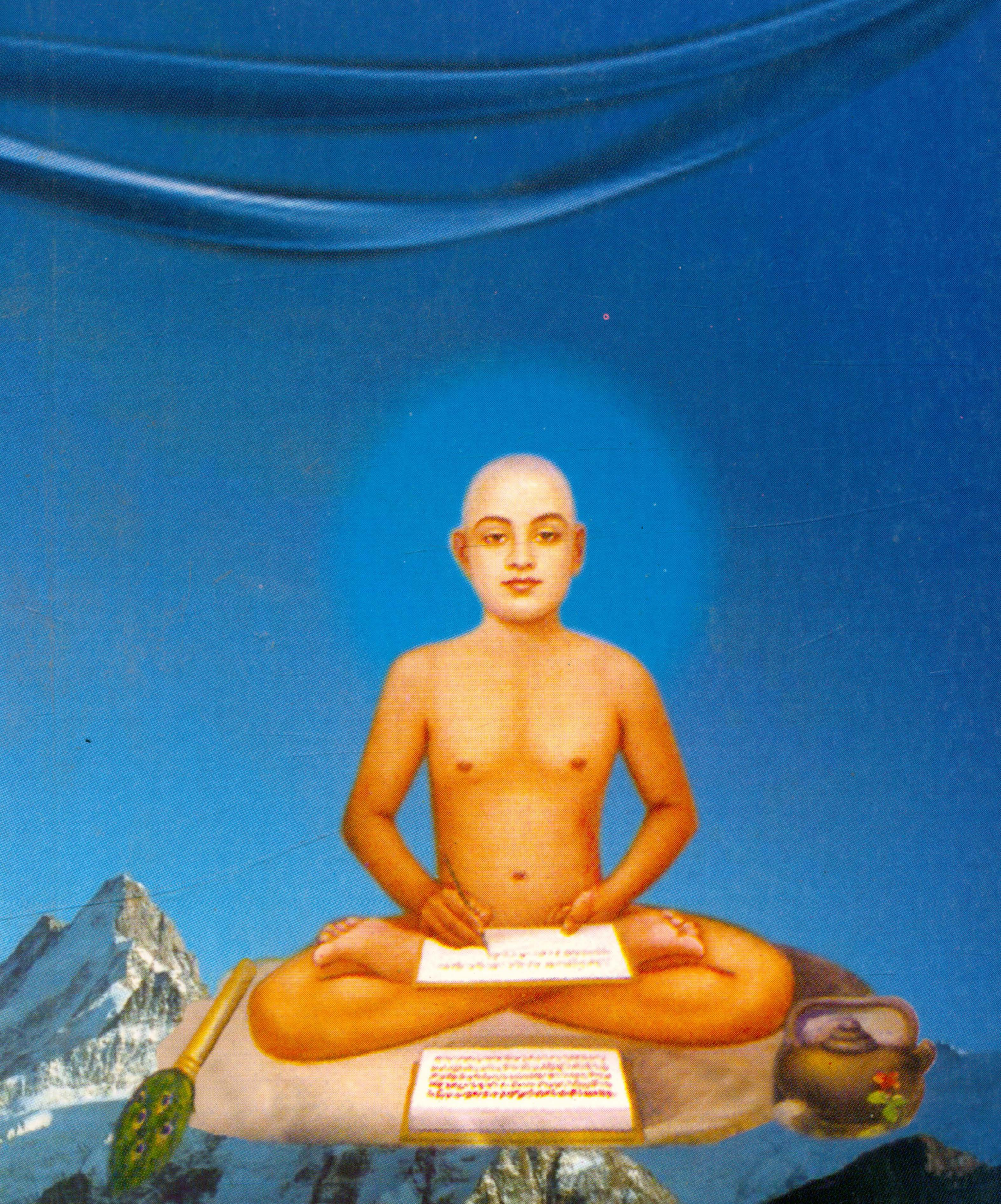

आचार्य कुन्दकुन्द कृत

गाथासमयसार

(गद्यपद्यानुवाद - डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल)

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवविरचित

गाथा समयसार

(पद्यानुवाद व अर्थ सहित)

पद्यानुवाद व गाथार्थ लेखन

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

प्रकाशक

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-4, बापूनगर, जयपुर-15 (राज.)

फोन : 2707458, E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

प्रथम संस्करण : 3 हजार
(26 जनवरी 2009)

मूल्य : १० रुपये

टाइपसैटिंग :
त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स
ए-4, बापूनगर, जयपुर

मुद्रक :
प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड
बाईस गोदाम, जयपुर

विषय-सूची

क्र.	विषय	पृष्ठ
1.	पूर्वरंग	1
2.	जीवाजीवाधिकार	13
3.	कर्त्ताकर्माधिकार	22
4.	पुण्यपापाधिकार	43
5.	आस्रवाधिकार	49
6.	संवराधिकार	54
7.	निर्जराधिकार	58
8.	बंधाधिकार	71
9.	मोक्षाधिकार	85
10.	सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार	91

प्रकाशकीय

आचार्य कुन्दकुन्ददेव विरचित 'गाथा समयसार' (पद्यानुवाद व अर्थ सहित) प्रकाशित करते हुए हमें विशेष आनन्द हो रहा है। इस लघु कृति में मात्र मूल गाथाएँ, उनका हरिगीत छन्द में डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल कृत पद्यानुवाद व गाथार्थ ही दिया गया है।

श्री टोडरमल दि. जैन सिद्धान्त महाविद्यालय के शास्त्री द्वितीय-तृतीय वर्ष के पाठ्यक्रम में प्रारंभ की १४४ गाथायें टीका सहित निर्धारित हैं। साथ ही अन्य विद्यालयों एवं श्री टोडरमल मुक्त विद्यापीठ के सिद्धान्त विशारद परीक्षा के पाठ्यक्रम में भी समाहित हैं। इसके अध्येता छात्र मूल गाथाएँ व पद्यानुवाद कण्ठस्थ भी करते हैं। कण्ठपाठ योजना के अंतर्गत भी अनेक छात्र सम्पूर्ण ग्रन्थ कण्ठस्थ करते हैं। सन् २००८-०९ के शैक्षणिक सत्र में श्री टोडरमल दि. जैन सिद्धांत महाविद्यालय के ४ छात्रों ने सम्पूर्ण ग्रंथ कण्ठस्थ भी कियाहै ।

टीका सहित प्रकाशित बड़े ग्रन्थ को हाथ में लेकर कण्ठस्थ करने में अत्यन्त असुविधा होती है; अत: उनके लिए यह कृति अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी। साथ ही सम्पूर्ण देश में अनेक स्थानों पर समयसार का सामूहिक पाठ होता है, वहाँ भी पाठकों को मूल गाथा अथवा पद्यानुवाद का पाठ करने में सुविधा होगी तथा जो पाठक आचार्य कुन्दकुन्ददेव के मूल अभिप्राय को संक्षेप में जानना व पढना चाहते हैं, उनके लिए भी यह कृति अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

समयसार जैसा विषय विविध रूपों मे समाज के सामने आवे तो लाभ ही लाभ है। इन्हीं उद्देश्यों से इस लघु कृति का पृथक् प्रकाशन किया जा रहा है।

इस कृति की कीमत कम करने वाले दातारों तथा आकर्षक रूप में टाइप-सेटिंग करनेवाले श्री दिनेशजी शास्त्री एवं सुन्दर रूप में प्रकाशित करनेवाले श्री अखिलजी बंसल को भी अनेकश: धन्यवाद।

– ब्र. यशपाल जैन, एम.ए.

प्रकाशन मंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

आचार्य कुन्दकुन्ददेव

जिन-अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान दिगम्बर जिन-आचार्य परम्परा में सर्वोपरि है। दो हजार वर्ष से आज तक लगातार दिगम्बर साधु अपने आपको कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा का कहलाने में गौरव का अनुभव करते रहे हैं।

शास्त्रसभा में गद्दी पर बैठकर प्रवचन करते समय ग्रन्थ और ग्रन्थकार के नाम के साथ-साथ यह उल्लेख भी आवश्यक माना जाता है कि यह ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्द की आम्नाय में रचा गया है।

प्रवचन के प्रारम्भ में बोली जानेवाली वे पंक्तियाँ इसप्रकार हैं –

"अस्य मूलग्रन्थकर्तार: श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तार: श्रीगण-धरदेवा: प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य श्रीकुन्दकुन्दाम्नाये.. ....विरचितम्। श्रोतार: सावधानतया शृण्वन्तु।"

उक्त पंक्तियों के उपरान्त मंगलाचरणस्वरूप जो छन्द बोला जाता है, उसमें भी भगवान महावीर और गौतम गणधर के साथ एकमात्र आचार्य कुन्दकुन्द का ही नामोल्लेखपूर्वक स्मरण किया जाता है, शेष सभी को 'आदि' शब्द से ही ग्रहण कर लिया जाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जिसप्रकार हाथी के पैर में सभी के पैर समाहित हो जाते हैं; उसीप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द में समग्र आचार्यपरम्परा समाहित हो जाती है। दिगम्बर परम्परा के प्रवचनकारों द्वारा प्रवचन के आरम्भ में मंगलाचरणस्वरूप बोला जानेवाला छन्द इसप्रकार है –

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

दिगम्बर जिनमन्दिरों में विराजमान लगभग प्रत्येक जिनबिम्ब (जिनप्रतिमा या जिनमूर्ति) पर 'कुन्द-कुन्दान्वय' उल्लेख पाया जाता है। परवर्ती ग्रन्थकारों ने आपको जिस श्रद्धा के साथ स्मरण किया है, उससे भी यह पता चलता है कि दिगम्बर परम्परा में आपका स्थान बेजोड़ है।

– समयसार : ज्ञायकभावप्रबोधिनी टीका की प्रस्तावना से साभार

आगमों का भी आगम

भगवान आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादक ग्रन्थाधिराज समयसार जिनागम का अजोड़ रत्न है, सम्पूर्ण जिनागम का सिरमौर है।

आचार्य अमृतचन्द्र इसे जगत का अद्वितीय अक्षय चक्षु कहते हैं और कहते हैं कि जगत में इससे महान और कुछ भी नहीं है। **'इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयम्[1]'**, **'न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति[2]'** – आचार्य अमृतचन्द्र की उक्त सूक्तियाँ समयसार की महिमा बताने के लिए पर्याप्त हैं।

समयसार का समापन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द स्वयं लिखते हैं कि जो आत्मा इस समयसार नामक शास्त्र को पढ़कर, इसमें प्रतिपादित आत्मवस्तु को अर्थ व तत्त्व से जानकर उस आत्मवस्तु में स्थित होता है, अपने को स्थापित करता है; वह आत्मा उत्तम सुख को प्राप्त करता है अर्थात् अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त करता है।

यह ग्रन्थाधिराज अत्यन्त क्रान्तिकारी महाशास्त्र है। इसने लाखों लोगों के जीवन को अध्यात्ममय बनाया है, मत-परिवर्तन के लिए बाध्य किया है। कविवर पण्डित बनारसीदासजी, श्रीमद् रायचन्द्रजी एवं आध्यात्मिक-सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी को इसने ही आन्दोलित किया था। उक्त महापुरुषों के जीवन को आमूलचूल परिवर्तित करनेवाला यही ग्रन्थराज है।

इसके संदर्भ में श्री कानजी स्वामी कहते हैं कि यह समयसार शास्त्र आगमों का भी आगम है, लाखों शास्त्रों का सार इसमें है। यह जैनशासन का स्तम्भ है, साधकों की कामधेनु है, कल्पवृक्ष है। इसकी हर गाथा छटवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए महामुनि के आत्मानुभव में से निकली हुई है।

इस ग्रन्थाधिराज का मूल प्रतिपाद्य नवतत्त्वों के निरूपण के माध्यम से नवतत्त्वों में छिपी हुई परमशुद्धनिश्चयनय की विषयभूत वह आत्मज्योति है, जिसके आश्रय से निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है।

---

१. आत्मख्याति टीका, कलश २४५ २. आत्मख्याति टीका, कलश २४४

–समयसार अनुशीलन भाग १ से साभार

मंगलाचरण

(दोहा)

समयसार को साधकर, बने सिद्ध भगवान।
अनंत चतुष्टय के धनी, श्री अरिहंत महान ॥१॥

आचारज पाठक मुनी, प्रमत्त और अप्रमत्त।
गुण में नित विचरण करें, नमन करूँ मैं नित्य ॥२॥

ज्ञायकभाव प्रकाशिनी, भाषी श्री भगवन्त।
परमतत्त्व प्रतिपादिनी, जिनवाणी जयवंत ॥3॥

(अडिल्ल छन्द)

साधकगण का एकमात्र है साध्य जो।
मुक्तिमार्ग का एकमात्र आराध्य जो॥
उसमें ही मन रमे निरन्तर रात-दिन।
परमसत्य शिव सुन्दर ज्ञायकभाव जो ॥४॥

(रोला छन्द)

केवल ज्ञायकभाव जो बद्धाबद्ध नहीं है।
जो प्रमत्त-अप्रमत्त न शुद्धाशुद्ध नहीं है॥
नय-प्रमाण के जिसमें भेद-प्रभेद नहीं हैं।
जिसमें दर्शन-ज्ञान-चरित के भेद नहीं हैं ॥५॥

जिसमें अपनापन ही दर्शन-ज्ञान कहा है।
सम्यक्चारित्र जिसका निश्चल ध्यान कहा है॥
वह एकत्व-विभक्त शुद्ध आतम परमातम।
अज अनादि मध्यान्त रहित ज्ञायक शुद्धातम ॥6॥

गुण भेदों से भिन्न सार है समयसार का।
पर्यायों से पार सार है समयसार का॥
मुक्तिवधू का प्यार सार है समयसार का।
एकमात्र आधार सार है समयसार का ॥७॥

शुद्धभाव से बलि-बलि जाऊँ समयसार पर।
जीवन का सर्वस्व समर्पण समयसार पर॥
समयसार की विषयवस्तु में नित्य रमे मन।
समयसार के ज्ञान-ध्यान में बीते जीवन ॥८॥

(समयसार की ज्ञायकभाव प्रबोधिनी टीका से)

गाथा समयसार

(पद्यानुवाद व अर्थ सहित)

पूर्वरंग

(१)

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं।।

ध्रुव अचल अनुपम सिद्ध की कर वंदना मैं स्व-पर हित।
यह समयप्राभृत कह रहा श्रुतकेवली द्वारा कथित।।

मैं ध्रुव, अचल और अनुपम गति को प्राप्त हुए सभी सिद्धों को नमस्कार कर श्रुतकेवलियों द्वारा कहे गये इस समयसार नामक प्राभृत को कहूँगा।

(२)

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिदो तं हि ससमयं जाण।
पोग्गलकम्मपदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं।।

सद्ज्ञानदर्शनचरित परिणत जीव ही हैं स्वसमय।
जो कर्मपुद्गल के प्रदेशों में रहें वे परसमय।।

जो जीव दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र में स्थित हैं; उन्हें स्वसमय जानो और जो जीव पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित हैं; उन्हें परसमय जानो।

(३)

एयत्तणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुन्दरो लोए।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होदि।।

एकत्वनिश्चयगत समय सर्वत्र सुन्दर लोक में।
विसंवाद है पर बंध की यह कथा ही एकत्व में॥

एकत्वनिश्चय को प्राप्त जो समय है, वह लोक में सर्वत्र ही सुन्दर है। इसलिए एकत्व में दूसरे के साथ बंध की कथा विसंवाद पैदा करनेवाली है।

(४)

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स॥

सबकी सुनी अनुभूत परिचित भोग बंधन की कथा।
पर से पृथक् एकत्व की उपलब्धि केवल सुलभ ना॥

काम, भोग और बंध की कथा तो सम्पूर्ण लोक ने खूब सुनी है, उसका परिचय भी प्राप्त किया है और उनका अनुभव भी किया है; अतः वह तो सर्वसुलभ ही है; परन्तु पर से भिन्न और अपने से अभिन्न भगवान आत्मा की कथा न कभी सुनी है, न उसका कभी परिचय प्राप्त किया है और न कभी उसका अनुभव ही किया है; अतः वह सुलभ नहीं है।

(५)

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्केज्ज छलं ण घेत्तव्वं॥

निज विभव से एकत्व ही दिखला रहा करना मनन।
पर नहीं करना छल ग्रहण यदि हो कहीं कुछ स्खलन॥

मैं उस एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा को निज वैभव से दिखाता हूँ। यदि मैं दिखाऊँ तो प्रमाण करना, स्वीकार करना और यदि चूक जाऊँ तो छल ग्रहण नहीं करना।

(६)

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णादो जो सो दु सो चेव॥

न अप्रमत्त है न प्रमत्त है बस एक ज्ञायकभाव है।
इस भाँति कहते शुद्ध पर जो ज्ञात वह तो वही है।।

जो एक ज्ञायकभाव है, वह अप्रमत्त भी नहीं है और प्रमत्त भी नहीं है; इसप्रकार उसे शुद्ध कहते हैं और जो ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ, वह तो वही है; अन्य कोई नहीं।

(७)

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो।।

दृग ज्ञान चारित जीव के हैं – यह कहा व्यवहार से।
ना ज्ञान दर्शन चरण ज्ञायक शुद्ध है परमार्थ से।।

ज्ञानी (आत्मा) के ज्ञान, दर्शन और चारित्र – ये तीन भाव व्यवहार से कहे जाते हैं; निश्चय से ज्ञान भी नहीं है, दर्शन भी नहीं है और चारित्र भी नहीं है; ज्ञानी (आत्मा) तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है।

(८)

जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं।।

अनार्य भाषा के बिना समझा सके न अनार्य को।
बस त्योंहि समझा सके ना व्यवहार बिन परमार्थ को।।

जिसप्रकार अनार्य (म्लेच्छ) भाषा के बिना अनार्य (म्लेच्छ) जन को कुछ भी समझाना संभव नहीं है; उसीप्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ (निश्चय) का कथन अशक्य है।

(९-१०)

जो हि सुदेणहिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा।।

जो सुदणाणं सव्वं जाणदि सुदकेवलिं तमाहु जिणा।
णाणं अप्पा सव्वं जम्हा सुदकेवली तम्हा।।

श्रुतज्ञान से जो जानते हैं शुद्ध केवल आतमा।
श्रुतकेवली उनको कहें ऋषिगण प्रकाशक लोक के।।
जो सर्वश्रुत को जानते उनको कहें श्रुतकेवली।
सब ज्ञान ही है आतमा बस इसलिए श्रुतकेवली।।

जो जीव श्रुतज्ञान के द्वारा केवल एक शुद्धात्मा को जानते हैं, उसे लोक के ज्ञाता ऋषिगण निश्चयश्रुतकेवली कहते हैं।

जो सर्वश्रुतज्ञान को जानते हैं, उन्हें जिनदेव व्यवहारश्रुतकेवली कहते हैं; क्योंकि सब ज्ञान आत्मा ही तो है।

(११)

ववहारो भूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो।।

शुद्धनय भूतार्थ है अभूतार्थ है व्यवहारनय।
भूतार्थ की ही शरण गह यह आतमा सम्यक् लहे।।

'व्यवहारनय अभूतार्थ है, शुद्धनय भूतार्थ है' – ऐसा कहा गया है। जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है, वह जीव निश्चय से सम्यग्दृष्टि होता है।

(१२)

सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे।।

परमभाव को जो प्राप्त हैं वे शुद्धनय ज्ञातव्य हैं।
जो रहें अपरमभाव में व्यवहार से उपदिष्ट हैं।।

जो शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धावान हुए तथा पूर्ण ज्ञान–चारित्रवान हो गये हैं, उन्हें शुद्धात्मा का उपदेश करनेवाला शुद्धनय जाननेयोग्य है और जो जीव अपरमभाव में स्थित हैं, श्रद्धा–ज्ञान –चारित्र के पूर्णभाव

को नहीं पहुँच सके हैं, साधक-अवस्था में ही स्थित हैं, वे व्यवहारनय द्वारा उपदेश करने योग्य हैं।

(१३)

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं।।

चिदचिदास्रव पाप-पुण्य शिव बंध संवर निर्जरा।
तत्त्वार्थ ये भूतार्थ से जाने हुए सम्यक्त्व हैं।।

भूतार्थ से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष – ये नवतत्त्व ही सम्यग्दर्शन हैं।

(१४)

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि।।

अबद्धपुट्ठ अनन्य नियत अविशेष जाने आत्म को।
संयोग विरहित भी कहे जो शुद्धनय उसको कहें।।

जो नय आत्मा को बन्धरहित और पर के स्पर्श से रहित, अन्यत्वरहित, चलाचलतारहित, विशेषरहित एवं अन्य के संयोग से रहित देखता है, जानता है; हे शिष्य ! तू उसे शुद्धनय जान।

(१५)

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससंतमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं।।

अबद्धपुट्ठ अनन्य अरु अविशेष जाने आत्म को।
द्रव्य एवं भावश्रुतमय सकल जिनशासन लहे।।

जो पुरुष आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष (तथा उपलक्षण से नियत और असंयुक्त) देखता है; वह सम्पूर्ण जिनशासन को देखता है। वह जिनशासन बाह्य द्रव्यश्रुत और अभ्यन्तर ज्ञानरूप भावश्रुतवाला है।

(१६)

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो।।

चारित्र दर्शन ज्ञान को सब साधुजन सेवें सदा।
ये तीन ही हैं आतमा बस कहे निश्चयनय सदा।।

साधुपुरुष को दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सदा सेवन करना चाहिए और उन तीनों को निश्चय से एक आत्मा ही जानो।

(१७-१८)

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण।।
एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण।।

'यह नृपति है' – यह जानकर अर्थार्थिजन श्रद्धा करें।
अनुचरण उसका ही करें अति प्रीति से सेवा करें।।
यदि मोक्ष की है कामना तो जीवनृप को जानिए।
अति प्रीति से अनुचरण करिए प्रीति से पहिचानिए।।

जिसप्रकार कोई धन का अर्थी पुरुष राजा को जानकर उसकी श्रद्धा करता है और फिर उसका प्रयत्नपूर्वक अनुचरण करता है, उसकी लगन से सेवा करता है।

उसीप्रकार मोक्ष के इच्छुक पुरुषों को जीवरूपी राजा को जानना चाहिए और फिर उसका श्रद्धान करना चाहिए, उसके बाद उसी का अनुचरण करना चाहिए; अर्थात् अनुभव के द्वारा उसमें तन्मय हो जाना चाहिए।

(१९)

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव।।

मैं कर्म हूँ नोकर्म हूँ या हैं हमारे ये सभी।
यह मान्यता जबतक रहे अज्ञानि हैं तबतक सभी॥

जबतक यह आत्मा ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्मों, मोह-राग-द्वेषादि भावकर्मों एवं शरीरादि नोकर्मों में अहंबुद्धि रखता है, ममत्वबुद्धि रखता है; यह मानता रहता है कि 'ये सभी मैं हूँ और मुझमें ये सभी कर्म-नोकर्म हैं' – तबतक अप्रतिबुद्ध रहता है, अज्ञानी रहता है।

(२० से २२)

अहमेदं एदमहं अहमेदस्स म्हि अत्थि मम एदं।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा॥
आसि मम पुव्वमेदं एदस्स अहं पि आसि पुव्वं हि।
होहिदि पुणो ममेदं एदस्स अहं पि होस्सामि॥
एयं तु असब्भूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो॥

सचित्त और अचित्त एवं मिश्र सब परद्रव्य ये।
हैं मेरे ये मैं इनका हूँ ये मैं हूँ या मैं हूँ वे ही॥
हम थे सभी के या हमारे थे सभी गतकाल में।
हम होयेंगे उनके हमारे वे अनागत काल में॥
ऐसी असम्भव कल्पनाएँ मूढ़जन नित ही करें।
भूतार्थ जाननहार जन ऐसे विकल्प नहीं करें॥

जो पुरुष अपने से भिन्न परद्रव्यों में – सचित्त स्त्री-पुत्रादिक में, अचित्त धन-धान्यादिक में, मिश्र ग्राम-नगरादिक में ऐसा विकल्प करता है, मानता है कि मैं ये हूँ, ये सब द्रव्य मैं हूँ; मैं इनका हूँ, ये मेरे हैं; ये मेरे पहले थे, इनका मैं पहले था; तथा ये सब भविष्य में मेरे होंगे, मैं भी भविष्य में इनका होऊँगा – वह व्यक्ति मूढ़ है, अज्ञानी है; किन्तु जो पुरुष वस्तु का वास्तविक स्वरूप जानता हुआ ऐसे झूठे विकल्प नहीं करता है, वह ज्ञानी है।

(२३ से २५)

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पोग्गलं दव्वं ।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो ।।
सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं ।
कह सो पोग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिणं ।।
जदि सो पोग्गलदव्वीभूदो जीवत्तमागदं इदरं ।
तो सक्को वत्तुं जे मज्झमिणं पोग्गलं दव्वं ।।

अज्ञान-मोहित-मती बहुविध भाव से संयुक्त जिय।
अबद्ध एवं बद्ध पुद्गल द्रव्य को अपना कहे।।
सर्वज्ञ ने देखा सदा उपयोग लक्षण जीव यह।
पुद्गलमयी हो किसतरह किसतरह तू अपना कहे ?।।
जीवमय पुद्गल तथा पुद्गलमयी हो जीव जब।
'ये मेरे पुद्गल द्रव्य हैं' – यह कहा जा सकता है तब।।

जिसकी मति अज्ञान से मोहित है और जो मोह-राग-द्वेष आदि अनेक भावों से युक्त है; ऐसा जीव कहता है कि ये शरीरादि बद्ध और धन-धान्यादि अबद्ध पुद्गलद्रव्य मेरे हैं।

उसे समझाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि सर्वज्ञ के ज्ञान द्वारा देखा गया जो सदा उपयोगलक्षणवाला जीव है, वह पुद्गलद्रव्यरूप कैसे हो सकता है कि जिससे तू कहता है कि यह पुद्गलद्रव्य मेरा है।

यदि जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यरूप हो जाये और पुद्गलद्रव्य जीवत्व को प्राप्त करे तो तू कह सकता है कि यह पुद्गलद्रव्य मेरा है।

(२६)

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरियसंथुदी चेव ।
सव्वा वि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ।।

यदि देह ना हो जीव तो तीर्थंकरों का स्तवन।
सब असत् होगा इसलिए बस देह ही है आतमा।।

अज्ञानी जीव कहता है कि यदि जीव शरीर नहीं है तो तीर्थंकरों और आचार्यों की जिनागम में जो स्तुति की गई है; वह सभी मिथ्या है। इसलिए हम समझते हैं कि देह ही आत्मा है।

(२७)

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदा वि एक्कट्ठो॥

'देह-चेतन एक हैं' – यह वचन है व्यवहार का।
'ये एक हो सकते नहीं' – यह कथन है परमार्थ का॥

व्यवहारनय तो यह कहता है कि जीव और शरीर एक ही है; किन्तु निश्चयनय के अभिप्राय से जीव और शरीर कभी भी एक पदार्थ नहीं हैं।

(२८)

इणमण्णं जीवादो देहं पोग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं॥

इस आतमा से भिन्न पुद्गल रचित तन का स्तवन।
कर मानना कि हो गया है केवली का स्तवन॥

जीव से भिन्न इस पुद्गलमय देह की स्तुति करके साधु ऐसा मानते हैं कि मैंने केवली भगवान की स्तुति की और वन्दना की।

(२९)

तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणो थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि॥

परमार्थ से सत्यार्थ ना वह केवली का स्तवन।
केवलि-गुणों का स्तवन ही केवली का स्तवन॥

किन्तु वह स्तवन निश्चयनय से योग्य नहीं है; क्योंकि शरीर के गुण केवली के गुण नहीं होते। जो केवली के गुणों की स्तुति करता है, वह परमार्थ से केवली की स्तुति करता है।

(३०)

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि ।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति ।।

वर्णन नहीं है नगरपति का नगर-वर्णन जिसतरह।
केवली-वन्दन नहीं है देह-वन्दन उसतरह।।

जिसप्रकार नगर का वर्णन करने पर भी, वह वर्णन राजा का वर्णन नहीं हो जाता; उसीप्रकार शरीर के गुणों का स्तवन करने पर केवली के गुणों का स्तवन नहीं हो जाता।

(३१)

जो इन्दिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू ।।

जो इन्द्रियों को जीत जाने ज्ञानमय निज आतमा।
वे हैं जितेन्द्रिय जिन कहें परमार्थ साधक आतमा।।

जो इंद्रियों को जीतकर आत्मा को अन्य द्रव्यों से अधिक (भिन्न) जानते हैं; वे वस्तुत: जितेन्द्रिय हैं – ऐसा निश्चयनय में स्थित साधुजन कहते हैं।

(३२)

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया बेंति ।।

मोह को जो जीत जाने ज्ञानमय निज आतमा।
जितमोह जिन उनको कहें परमार्थ ज्ञायक आतमा।।

जो मुनि मोह को जीतकर अपने आत्मा को ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्यभावों से अधिक जानता है, भिन्न जानता है; उस मुनि को परमार्थ के जाननेवाले जितमोह कहते हैं।

(३३)

जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स ।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ।।

सब मोह क्षय हो जाय जब जितमोह सम्यक्श्रमण का।
तब क्षीणमोही जिन कहें परमार्थ ज्ञायक आतमा॥

जिसने मोह को जीत लिया है, ऐसे साधु के जब मोह क्षीण होकर सत्ता में से नष्ट हो; तब उस साधु को निश्चयनय के जानकार क्षीणमोह कहते हैं।

(३४-३५)

सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परे त्ति णादूणं।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं॥
जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणं ति जाणिदुं चयदि।
तह सव्वे परभावे णाऊण विमुञ्चदे णाणी॥

परभाव को पर जानकर परित्याग उनका जब करे।
तब त्याग हो बस इसलिए ही ज्ञान प्रत्याख्यान है॥
जिसतरह कोई पुरुष पर जानकर पर परित्यजे।
बस उसतरह पर जानकर परभाव ज्ञानी परित्यजे॥

जिसकारण यह आत्मा अपने आत्मा से भिन्न समस्त पर-पदार्थों का 'वे पर हैं' – ऐसा जानकर प्रत्याख्यान करता है, त्याग करता है; उसी कारण प्रत्याख्यान ज्ञान ही है। – ऐसा नियम से जानना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि अपने ज्ञान में त्यागरूप अवस्था होना ही प्रत्याख्यान है, त्याग है; अन्य कुछ नहीं।

जिसप्रकार लोक में कोई पुरुष परवस्तु को 'यह परवस्तु है' – ऐसा जानकर परवस्तु का त्याग करता है; उसीप्रकार ज्ञानी पुरुष समस्त परद्रव्यों के भावों को 'ये परभाव हैं' – ऐसा जानकर छोड़ देते हैं।

(३६)

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया बेंति॥

मोहादि मेरे कुछ नहीं मैं एक हूँ उपयोगमय।
है मोह-निर्ममता यही वे कहें जो जानें समय॥

स्व-पर और सिद्धान्त के जानकार आचार्यदेव ऐसा कहते हैं कि 'मोह मेरा कुछ भी नहीं है, मैं तो एक उपयोगमय ही हूँ' – ऐसा जो जानता है, वह मोह से निर्मम है।

(३७)

णत्थि मम धम्म आदी बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को।
तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया बेंति॥

धर्मादि मेरे कुछ नहीं मैं एक हूँ उपयोगमय।
है धर्म-निर्ममता यही वे कहें जो जानें समय॥

स्व-पर और सिद्धान्त के जानकार आचार्यदेव ऐसा कहते हैं कि ये धर्म आदि द्रव्य मेरे कुछ भी नहीं हैं; मैं तो एक उपयोगमय ही हूँ – ऐसा जो जानता है, वह धर्म आदि द्रव्यों से निर्मम है।

(३८)

अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमेत्तं पि॥

मैं एक दर्शन-ज्ञानमय नित शुद्ध हूँ रूपी नहीं।
ये अन्य सब परद्रव्य किंचित् मात्र भी मेरे नहीं॥

दर्शन-ज्ञान-चारित्र परिणत आत्मा यह जानता है कि निश्चय से मैं सदा ही एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानमय हूँ, अरूपी हूँ और अन्य द्रव्य किंचित्मात्र भी मेरे नहीं हैं, परमाणुमात्र भी मेरे नहीं हैं। •

(हरिगीत)

सुख शान्तरस से लबालब यह ज्ञानसागर आतमा।
विभरम की चादर हटा सर्वांग परगट आतमा॥
हे भव्यजन! इस लोक के सब एक साथ नहाइये।
अर इसे ही अपनाइये इसमें मगन हो जाइये॥३२॥

– समयसार कलश पद्यानुवाद

१

जीवाजीवाधिकार

(३९ से ४३)

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई।
जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूवेंति।।
अवरे अज्झवसाणेसु तिव्वमंदाणुभागगं जीवं।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवो त्ति।।
कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभागमिच्छंति।
तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो।।
जीवो कम्मं उहयं दोण्णि वि खलु केइ जीवमिच्छंति।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति।।
एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा।
ते ण परमट्ठवादी णिच्छयवादीहिं णिद्दिट्ठा।।

परात्मवादी मूढ़जन निज आतमा जानें नहीं।
अध्यवसान को आतम कहें या कर्म को आतम कहें।।
अध्यवसानगत जो तीव्रता या मन्दता वह जीव है।
पर अन्य कोई यह कहे नोकर्म ही बस जीव है।।
मन्द अथवा तीव्रतम जो कर्म का अनुभाग है।
वह जीव है या कर्म का जो उदय है वह जीव है।।
द्रव कर्म का अर जीव का सम्मिलन ही बस जीव है।
अथवा कहे कोइ करम का संयोग ही बस जीव है।।
बस इसतरह दुर्बुद्धिजन परवस्तु को आतम कहें।
परमार्थवादी वे नहीं परमार्थवादी यह कहें।।

आत्मा को नहीं जाननेवाले पर को ही आत्मा माननेवाले कई मूढ़ लोग तो अध्यवसान को और कर्म को जीव कहते हैं।

अन्य कोई लोग तीव्र-मन्द अनुभागगत अध्यवसानों को जीव मानते हैं; दूसरे कोई नोकर्म को जीव मानते हैं।

अन्य कोई कर्म के उदय को जीव मानते हैं और कोई तीव्र-मंदतारूप गुणों से भेद को प्राप्त कर्म के अनुभाग को जीव इच्छते हैं, मानते हैं।

अन्य कोई जीव और कर्म – दोनों के मिले रूप को जीव मानते हैं और कोई अन्य कर्म के संयोग को ही जीव मानते हैं।

इसप्रकार के तथा अन्य भी अनेकप्रकार के दुर्बुद्धि, मिथ्यादृष्टि जीव पर को आत्मा कहते हैं। वे सभी परमार्थवादी, सत्यार्थवादी, सत्य बोलनेवाले नहीं हैं – ऐसा निश्चयवादियों ने, सत्यार्थवादियों ने, सत्य बोलनेवालों ने कहा है।

(४४)

एदे सव्वे भावा पोग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चंति।।

ये भाव सब पुद्गल दरव परिणाम से निष्पन्न हैं।
यह कहा है जिनदेव ने 'ये जीव हैं' – कैसे कहें।।

ये पूर्वकथित अध्यवसान आदि सभी भाव पुद्गलद्रव्य के परिणाम से उत्पन्न हुए हैं – ऐसा केवली भगवान ने कहा है; अतः उन्हें जीव कैसे कहा जा सकता है ?

(४५)

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पोग्गलमयं जिणा बेंति।
जस्स फलं तं वुच्चदि दुक्खं ति विपच्चमाणस्स।।

अष्टविध सब कर्म पुद्गलमय कहे जिनदेव ने।
सब कर्म का परिणाम दुःखमय यह कहा जिनदेव ने।।

जिनेन्द्र भगवान कहते हैं कि आठों प्रकार के सभी कर्म पुद्गलमय हैं और उनके पकने पर उदय में आनेवाले कर्मों का फल दुःख कहा गया है।

(४६)

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा।।

ये भाव सब हैं जीव के जो यह कहा जिनदेव ने।
व्यवहारनय का पक्ष यह प्रस्तुत किया जिनदेव ने।।

'ये सब अध्यवसानादिभाव जीव हैं' – इसप्रकार जो जिनेन्द्रदेव ने उपदेश दिया है, वह व्यवहारनय दिखाया है।

(४७-४८)

राया हु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्य आदेसो।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेक्को णिग्गदो राया।।
एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाणं।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेक्को णिच्छिदो जीवो।।

सेना सहित नरपती निकले नृप चला ज्यों जन कहें।
यह कथन है व्यवहार का पर नृपति उनमें एक है।।
बस उसतरह ही सूत्र में व्यवहार से इन सभी को।
जीव कहते किन्तु इनमें जीव तो बस एक है।।

सेना सहित राजा के निकलने पर जो यह कहा जाता है कि 'यह राजा निकला', वह व्यवहार से ही कहा जाता है; क्योंकि उस सेना में वस्तुतः राजा तो एक ही होता है।

इसीप्रकार अध्यवसानादि अन्य भावों को 'ये जीव हैं' – इसप्रकार जो सूत्र (आगम) में कहा गया है, वह व्यवहार से ही कहा गया है। यदि निश्चय से विचार किया जाये तो उनमें जीव तो एक ही है।

(४९)

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।

चैतन्य गुणमय आतमा अव्यक्त अरस अरूप है।
जानो अलिंगग्रहण इसे यह अनिर्दिष्ट अशब्द है॥

हे भव्य ! तुम जीव को अरस, अरूप, अगन्ध, अव्यक्त, अशब्द, अनिर्दिष्टसंस्थान, अलिंगग्रहण और चेतना गुणवाला जानो।

(५०)

जीवस्स णत्थि वण्णो ण वि गंधो ण वि रसो ण वि य फासो।
ण वि रूवं ण सरीरं ण वि संठाणं ण संहणणं॥

शुध जीव के रस गन्ध ना अर वर्ण ना स्पर्श ना।
यह देह ना जड़रूप ना संस्थान ना संहनन ना॥

जीव के वर्ण नहीं है, गन्ध भी नहीं है, रस और स्पर्श भी नहीं है; रूप भी नहीं है, शरीर भी नहीं है, संस्थान और संहनन भी नहीं है।

(५१)

जीवस्स णत्थि रागो ण वि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि॥

ना राग है ना द्वेष है ना मोह है इस जीव के।
प्रत्यय नहीं है कर्म ना नोकर्म ना इस जीव के॥

जीव के राग नहीं है, द्वेष नहीं है और मोह भी विद्यमान नहीं है; प्रत्यय नहीं है, कर्म भी नहीं है और नोकर्म भी नहीं है।

(५२)

जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभागठाणाणि॥

ना वर्ग है ना वर्गणा अर कोई स्पर्धक नहीं।
अर नहीं हैं अनुभाग के अध्यात्म के स्थान भी॥

जीव के वर्ग नहीं है, वर्गणा नहीं है और कोई स्पर्धक भी नहीं है; अध्यात्मस्थान और अनुभागस्थान भी नहीं है।

(५३)

जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई।।

योग के स्थान नहिं अर बंध के स्थान ना।
उदय के स्थान नहिं अर मार्गणास्थान ना।।

जीव के कोई योगस्थान नहीं है, बंधस्थान नहीं है, उदयस्थान नहीं है और कोई मार्गणास्थान भी नहीं है।

(५४)

णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा।।

थितिबंध के स्थान नहिं संक्लेश के स्थान ना।
संयमलब्धि के स्थान ना सुविशुद्धि के स्थान ना।।

जीव के स्थितिबंधस्थान नहीं है, संक्लेशस्थान भी नहीं है, विशुद्धि-स्थान भी नहीं है और संयमलब्धिस्थान भी नहीं है।

(५५)

णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पोग्गलदव्वस्स परिणामा।।

जीव के स्थान नहिं गुणथान के स्थान ना।
क्योंकि ये सब भाव पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं।।

जीव के जीवस्थान नहीं है और गुणस्थान भी नहीं है; क्योंकि ये सभी पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं।

(५६)

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स।।

वर्णादि को व्यवहार से ही कहा जाता जीव के।
परमार्थ से ये भाव भी होते नहीं हैं जीव के॥

ये वर्णादि से लेकर गुणस्थान पर्यन्त जो भाव कहे हैं, वे व्यवहारनय से तो जीव के हैं; किन्तु निश्चयनय से उनमें से कोई भी जीव के नहीं हैं।

(५७)

एदेहिं य सम्बन्धो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
ण य होंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा॥

दूध-पानी की तरह सम्बन्ध इनका जानना।
उपयोगमय इस जीव के परमार्थ से ये हैं नहीं॥

यद्यपि इन वर्णादिक भावों के साथ जीव का दूध और पानी की तरह एकक्षेत्रावगाहरूप संयोग सम्बन्ध है; तथापि वे जीव के नहीं हैं; क्योंकि जीव उनसे उपयोग गुण से अधिक है – ऐसा जानना चाहिए।

(५८-५९)

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई॥
तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो॥

पथिक लुटते देखकर पथ लुट रहा जग-जन कहें।
पर पथ तो लुटता है नहीं बस पथिक ही लुटते रहें॥
उस ही तरह रंग देखकर जड़कर्म अर नोकर्म का।
जिनवर कहें व्यवहार से यह वर्ण है इस जीव का॥

जिसप्रकार मार्ग में जाते हुए व्यक्ति को लुटता हुआ देखकर व्यवहारीजन ऐसा कहते हैं कि यह मार्ग लुटता है; किन्तु परमार्थ से विचार किया जाये तो कोई मार्ग तो लुटता नहीं है, अपितु मार्ग में चलता हुआ पथिक ही लुटता है।

इसीप्रकार जीव में कर्मों और नोकर्मों का वर्ण देखकर जिनेन्द्र भगवान व्यवहार से ऐसा कहते हैं कि यह वर्ण जीव का है।

(६०)

गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति।।

इस ही तरह रस गन्ध तन संस्थान आदिक जीव के।
व्यवहार से हैं – कहें वे जो जानते परमार्थ को।।

जिसप्रकार वर्ण के बारे में कहा गया है; उसीप्रकार गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, देह, संस्थान आदि के बारे में भी समझना चाहिए कि ये सब भाव भी व्यवहार से ही जीव के हैं – ऐसा निश्चयनय के देखनेवाले या निश्चयनय के जानकार कहते हैं।

(६१ से ६४)

तत्थ भवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णादी।
संसारपमुक्काणं णत्थि हु वण्णादओ केई।।
जीवो चेव हि एदे सव्वे भाव त्ति मण्णसे जदि हि।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई।।
अह संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा।।
एवं पोग्गलदव्वं जीवो तहलक्खणेण मूढमदी।
णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पोग्गलो पत्तो।।

जो जीव हैं संसार में वर्णादि उनके ही कहे।
जो मुक्त हैं संसार से वर्णादि उनके हैं नहीं।।
वर्णादिमय ही जीव हैं तुम यदी मानो इसतरह।
तब जीव और अजीव में अन्तर करोगे किसतरह?।।
मानो उन्हें वर्णादिमय जो जीव हैं संसार में।
तब जीव संसारी सभी वर्णादिमय हो जायेंगे।।

यदि लक्षणों की एकता से जीव हों पुद्गल सभी।
बस इसतरह तो सिद्ध होंगे सिद्ध भी पुद्गलमयी।।

वर्णादिभाव संसारी जीवों के ही होते हैं, मुक्त जीवों के नहीं।

यदि तुम ऐसा मानोगे कि ये वर्णादिभाव जीव ही हैं तो तुम्हारे मत में जीव और अजीव में कोई अन्तर ही नहीं रहेगा।

यदि तुम ऐसा मानो कि संसारी जीव के ही वर्णादिक होते हैं; इसकारण संसारी जीव तो रूपी हो ही गये, किन्तु रूपित्व लक्षण तो पुद्गलद्रव्य का है। अत: हे मूढ़मति ! पुद्गलद्रव्य ही जीव कहलाया।

अकेले संसारावस्था में ही नहीं, अपितु निर्वाण प्राप्त होने पर भी पुद्गल ही जीवत्व को प्राप्त हुआ।

(६५-६६)

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इन्दिया जीवा।
बादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स।।
एदाहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणा उ करणभूदाहिं।
पयडीहिं पोग्गलमइहिं ताहिं कह भण्णदे जीवो।।

एकेन्द्रियादिक प्रकृति हैं जो नाम नामक कर्म की।
पर्याप्तकेतर आदि एवं सूक्ष्म-बादर आदि सब।।
इनकी अपेक्षा कहे जाते जीव के स्थान जो।
कैसे कहें – 'वे जीव हैं' – जब प्रकृतियाँ पुद्गलमयी।।

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त – ये नामकर्म की प्रकृतियाँ हैं।

इन पुद्गलमयी नामकर्म की प्रकृतियों के कारणरूप होकर रचित जीवस्थानों को जीव कैसे कहा जा सकता है ?

(६७)

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहमा बादरा य जे चेव।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता।।

पर्याप्तकेतर आदि एवं सूक्ष्म-बादर आदि सब।
जड़ देह की है जीव संज्ञा सूत्र में व्यवहार से॥

शास्त्रों में देह के पर्याप्तक, अपर्याप्तक, सूक्ष्म, बादर आदि जितने भी नाम जीवरूप में दिये गये हैं; वे सभी व्यवहारनय से ही दिये गये हैं।

(६८)

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता॥

मोहन-करम के उदय से गुणथान जो जिनवर कहे।
वे जीव कैसे हो सकें जो नित अचेतन ही कहे॥

मोहकर्म के उदय से होनेवाले गुणस्थान सदा ही अचेतन हैं – ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है; अत: वे जीव कैसे हो सकते हैं ? ●

(मालिनी)

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन स्वयमपि निभृत: सन् पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंस: पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धि:॥

(हरिगीत)

हे भव्यजन ! क्या लाभ है इस व्यर्थ के बकवाद से।
अब तो रुको निज को लखो अध्यात्म के अभ्यास से॥
यदि अनवरत छहमास हो निज आतमा की साधना।
तो आतमा की प्राप्ति हो सन्देह इसमें रंच ना॥३४॥

हे भव्य ! हे भाई !! अन्य व्यर्थ के कोलाहल करने से क्या लाभ है? अत: हे भाई ! तू इस अकार्य कोलाहल से विराम ले, इसे बन्द कर दे और जगत से निवृत्त होकर एक चैतन्य-मात्र वस्तु को निश्चल होकर देख ! ऐसा छहमास तक करके तो देख ! तुझे अपने ही हृदय-सरोवर में पुद्गल से भिन्न, तेजवन्त, प्रकाशपुंज भगवान आत्मा की प्राप्ति होती है या नहीं ? तात्पर्य यह है कि ऐसा करने से तुझे भगवान आत्मा की प्राप्ति अवश्य होगी।

–समयसार कलश पद्यानुवाद

२

कर्ताकर्माधिकार

(६९-७०)

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोह्णंपि।
अण्णाणी ताव दु सो कोहादिसु वट्टदे जीवो।।
कोहादिसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदी।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरिसीहिं।।

आतमा अर आस्रवों में भेद जब जाने नहीं।
हैं अज्ञ तबतक जीव सब क्रोधादि में वर्तन करें।।
क्रोधादि में वर्तन करें तब कर्म का संचय करें।
हो कर्मबंधन इसतरह इस जीव को जिनवर कहें।।

जबतक यह जीव आत्मा और आस्रवों – इन दोनों के भेद और अन्तर को नहीं जानता है, तबतक अज्ञानी रहता हुआ क्रोधादि आस्रवों में प्रवर्तता है।

क्रोधादि में प्रवर्तमान उस जीव के कर्म का संचय होता है। जीव के कर्मों का बंध वास्तव में इसप्रकार होता है – ऐसा सर्वदर्शी भगवानों ने कहा है।

(७१)

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से।।

आतमा अर आस्रवों में भेद जाने जीव जब।
जिनदेव ने ऐसा कहा कि नहीं होवे बंध तब।।

जब यह जीव आत्मा और आस्रवों का अन्तर और भेद जानता है, तब उसे बंध नहीं होता।

(७२)

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो ।।

इन आस्रवों की अशुचिता विपरीतता को जानकर।
आतम करें उनसे निवर्तन दुःख कारण मानकर।।

आस्रवों की अशुचिता एवं विपरीतता जानकर और वे दुःख के कारण हैं – ऐसा जानकर जीव उनसे निवृत्ति करता है।

(७३)

अहमेक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो।
तम्हि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि।।

मैं एक हूँ मैं शुद्ध निर्मम ज्ञान-दर्शन पूर्ण हूँ।
थित लीन निज में ही रहूँ सब आस्रवों का क्षय करूँ।।

ज्ञानी विचारता है कि मैं निश्चय से एक हूँ, शुद्ध हूँ, निर्मम हूँ और ज्ञान-दर्शन से पूर्ण हूँ। इसप्रकार के आत्मस्वभाव में स्थित रहता हुआ, उसी में लीन होता हुआ मैं इन सभी क्रोधादि आस्रवभावों का क्षय करता हूँ।

(७४)

जीवणिबद्धा एदे अधुव अणिच्चा तहा असरणा य।
दुक्खा दुक्खफल त्ति य णादूण णिवत्तदे तेहिं।।

ये सभी जीवनिबद्ध अध्रुव शरणहीन अनित्य हैं।
दुःखरूप दुःखफल जानकर इनसे निवर्तन बुध करें।।

ये आस्रवभाव जीव के साथ निबद्ध हैं, अध्रुव हैं, अनित्य हैं, अशरण हैं, दुःखरूप हैं और दुःख के रूप में फलते हैं, दुःख के कारण हैं – ऐसा जानकर ज्ञानी उनसे निवृत्त होता है।

(७५)

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी।।

करम के परिणाम को नोकरम के परिणाम को।
जो ना करे बस मात्र जाने प्राप्त हो सद्ज्ञान को।।

जो आत्मा इस कर्म के परिणाम को तथा नोकर्म के परिणाम को करता नहीं है, मात्र जानता ही है; वह ज्ञानी है।

(७६ से ७९)

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्व पज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पोग्गलकम्मं अणेयविहं।।
ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणेयविहं।।
ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पोग्गलकम्मप्फलमणंतं।।
ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
पोग्गलदव्वं पि तहा परिणमदि सएहिं भावेहिं।।

परद्रव्य की पर्याय में उपजे ग्रहे ना परिणमें।
बहुभाँति पुद्गल कर्म को ज्ञानी पुरुष जाना करें।।
परद्रव्य की पर्याय में उपजे ग्रहे ना परिणमें।
बहुभाँति निज परिणाम सब ज्ञानी पुरुष जाना करें।।
परद्रव्य की पर्याय में उपजे ग्रहे ना परिणमें।
पुद्गल करम का नंतफल ज्ञानी पुरुष जाना करें।।
परद्रव्य की पर्याय में उपजे ग्रहे ना परिणमें।
इस ही तरह पुद्गल दरव निजभाव से ही परिणमें।।

ज्ञानी अनेकप्रकार के पुद्गल कर्म को जानता हुआ भी निश्चय से परद्रव्य की पर्यायरूप परिणमित नहीं होता, उसे ग्रहण नहीं करता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता।

ज्ञानी अनेकप्रकार के अपने परिणामों को जानता हुआ भी निश्चय से

परद्रव्य की पर्यायरूप परिणमित नहीं होता; उसे ग्रहण नहीं करता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता।

ज्ञानी पुद्गल कर्म के अनन्तफल को जानते हुए भी परमार्थ से परद्रव्य की पर्यायरूप परिणमित नहीं होता, उसे ग्रहण नहीं करता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता।

इसीप्रकार पुद्गल द्रव्य भी परद्रव्य की पर्यायरूप परिणमित नहीं होता, उसे ग्रहण नहीं करता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि वह भी अपने ही भावों से परिणमित होता है।

(८० से ८२)

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पोग्गला परिणमंति।
पोग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि।।
ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि।।
एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पोग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं।।

जीव के परिणाम से जड़कर्म पुद्गल परिणमें।
पुद्गल करम के निमित्त से यह आतमा भी परिणमें।।
आतम करे ना कर्मगुण ना कर्म आतमगुण करे।
पर परस्पर परिणमन में दोनों परस्पर निमित्त हैं।।
बस इसलिए यह आतमा निजभाव का कर्ता कहा।
अन्य सब पुद्गलकरमकृत भाव का कर्ता नहीं।।

जीव के परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल (कार्माण वर्गणाएँ) कर्मरूप परिणमित होते हैं तथा जीव भी पौद्गलिककर्मों के निमित्त से परिणमन करता है।

यद्यपि जीव कर्म के गुणों को नहीं करता और कर्म जीव के गुणों को

नहीं करता; तथापि परस्पर निमित्त से दोनों के परिणाम होते हैं – ऐसा जानो।

इसकारण आत्मा अपने भावों का कर्ता है, परन्तु पौद्गलिककर्मों के द्वारा किये गये समस्त भावों का कर्ता नहीं है।

(८३)

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं।।

हे भव्यजन ! तुम जान लो परमार्थ से यह आतमा।
निजभाव को करता तथा निजभाव को ही भोगता।।

निश्चयनय का ऐसा कहना है कि यह आत्मा अपने को ही करता है और अपने को ही भोगता है – हे शिष्य ! ऐसा तू जान।

(८४-८५)

ववहारस्स दु आदा पोग्गलकम्मं करेदि णेयविहं।
तं चेव पुणो वेयइ पोग्गलकम्मं अणेयविहं।।
जदि पोग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
दोकिरियावदिरित्तो पसज्जदे सो जिणावमदं।।

अनेक विध पुद्गल करम को करे भोगे आतमा।
व्यवहारनय का कथन है यह जान लो भव्यातमा।।
पुद्गल करम को करे भोगे जगत में यदि आतमा।
द्विक्रिया अव्यतिरिक्त हों सम्मत न जो जिनधर्म में।।

व्यवहारनय का यह मत है कि आत्मा अनेकप्रकार के पुद्गलकर्मों को करता है और उन्हीं अनेकप्रकार के पुद्गलकर्मों को भोगता है।

यदि आत्मा पुद्गलकर्म को करे और उसी को भोगे तो वह आत्मा अपनी और पुद्गलकर्म की दो क्रियाओं से अभिन्न ठहरे; जो कि जिनदेव को सम्मत नहीं है।

(८६)

जम्हा दु अत्तभावं पोग्गलभावं च दो वि कुव्वंति।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो हुंति।।

यदि आतमा जड़भाव चेतनभाव दोनों को करे।
तो आतमा द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि अवतरे।।

क्योंकि वे ऐसा मानते हैं कि आत्मा के भाव और पुद्गल के भाव – दोनों को आत्मा करता है; इसीलिए वे द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि हैं।

(८७-८८)

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं।
अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा।।
पोग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं।
उवओगो अण्णाणं अविरदि मिच्छं च जीवो दु।।

मिथ्यात्व-अविरति-जोग-मोहाज्ञान और कषाय हैं।
ये सभी जीवाजीव हैं ये सभी द्विविधप्रकार हैं।।
मिथ्यात्व आदि अजीव जो वे सभी पुद्गल कर्म हैं।
मिथ्यात्व आदि जीव हैं जो वे सभी उपयोग हैं।।

जीवमिथ्यात्व और अजीवमिथ्यात्व के भेद से मिथ्यात्व दो प्रकार का है। इसीप्रकार अज्ञान, अविरति, योग, मोह और क्रोधादि भी जीव और अजीव के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं।

जो मिथ्यात्व, योग, अविरति और अज्ञान अजीव हैं; वे तो पौद्गलिक कर्म हैं और जो अज्ञान, अविरति और मिथ्यात्व जीव हैं, वे उपयोग हैं।

(८९)

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णादव्वो।।

मोहयुत उपयोग के परिणाम तीन अनादि से।
जानो उन्हें मिथ्यात्व अविरतभाव अर अज्ञान ये।।

मोहयुक्त उपयोग के मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरतिभाव – ये तीन परिणाम अनादि से ही जानना चाहिए।

(९०-९१)

एदेसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता।।
जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पोग्गलं दव्वं।।

यद्यपी उपयोग तो नित ही निरंजन शुद्ध है।
जिसरूप परिणत हो त्रिविध वह उसी का कर्ता बने।।
आतम करे जिस भाव को उस भाव का कर्ता बने।
बस स्वयं ही उस समय पुद्गल कर्मभावे परिणमे।।

यद्यपि आत्मा का उपयोग शुद्ध और निरंजन भाव है; तथापि तीन प्रकार का होता हुआ वह उपयोग जिस भाव को स्वयं करता है, उस भाव का वह कर्ता होता है।

आत्मा जिस भाव को करता है, उसका वह कर्ता होता है। उसके कर्ता होने पर पुद्गलद्रव्य अपने आप कर्मरूप परिणमित होता है।

(९२-९३)

परमप्पाणं कुव्वं अप्पाणं पि य परं करिंतो सो।
अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि।।
परमप्पाणमकुव्वं अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो।
सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारगो होदि।।

पर को करे निजरूप जो पररूप जो निज को करे।
अज्ञानमय वह आतमा पर करम का कर्ता बने।।
पररूप ना निज को करे पर को करे निजरूप ना।
अकर्ता रहे पर करम का सद्ज्ञानमय वह आतमा।।

जो पर को अपनेरूप करता है, अपने को भी पररूप करता है; वह अज्ञानी जीव कर्मों का कर्ता होता है।

जो पर को अपनेरूप नहीं करता और अपने को भी पररूप नहीं करता, वह ज्ञानी जीव कर्मों का कर्ता नहीं होता, अकर्ता ही रहता है।

(९४-९५)

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेदि कोहोऽहं।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स।।
तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेदि धम्मादी।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स।।

त्रिविध यह उपयोग जब 'मैं क्रोध हूँ' इम परिणमें।
तब जीव उस उपयोगमय परिणाम का कर्ता बने।।
त्रिविध यह उपयोग जब 'मैं धर्म हूँ' इम परिणमें।
तब जीव उस उपयोगमय परिणाम का कर्ता बने।।

यह तीन प्रकार का उपयोग जब क्रोधादि में 'मैं क्रोध हूँ' – इसप्रकार का आत्म-विकल्प करता है, अपनेपन का विकल्प करता है; तब आत्मा उस उपयोगरूप अपने भाव का कर्ता होता है।

इसीप्रकार यह तीनप्रकार का उपयोग जब धर्मास्तिकाय आदि में 'मैं धर्मास्तिकाय हूँ' – इसप्रकार का आत्मविकल्प करता है, अपनेपन का विकल्प करता है; तब आत्मा उस उपयोगरूप अपने भाव का कर्ता होता है।

(९६)

एवं पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ।
अप्पाणं अवि य परं करेदि अण्णाणभावेण।।

इसतरह यह मंदबुद्धि स्वयं के अज्ञान से।
निज द्रव्य को पर करे अरु परद्रव्य को अपना करे।।

इसप्रकार अज्ञानी जीव अज्ञानभाव से परद्रव्यों को अपनेरूप और स्वयं को पररूप करता है।

(९७)

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो ।
एवं खलु जो जाणदि सो मुञ्चदि सव्वकत्तितं ।।

बस इसतरह कर्ता कहें परमार्थ ज्ञायक आतमा।
जो जानते यह तथ्य वे छोड़ें सकल कर्तापना।।

इसकारण निश्चयनय के विशेषज्ञ ज्ञानियों ने उक्त आत्मा को कर्ता कहा है – निश्चयनय से जो ऐसा जानता है, वह सर्व कर्तृत्व को छोड़ देता है।

(९८ से १००)

ववहारेण दु आदा करेदि घडपडरधाणि दव्वाणि ।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि ।।
जदि सो परदव्वाणि य करेज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज ।
जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ।।
जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे ।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ।।

व्यवहार से यह आतमा घटपटरथादिक द्रव्य का।
इन्द्रियों का कर्म का नोकर्म का कर्ता कहा।।
परद्रव्यमय हो जाय यदि पर द्रव्य में कुछ भी करे।
परद्रव्यमय होता नहीं बस इसलिए कर्ता नहीं।।
ना घट करे ना पट करे ना अन्य द्रव्यों को करे।
कर्ता कहा तत्रूपपरिणत योग अर उपयोग का।।

व्यवहार से आत्मा घट-पट-रथ इत्यादि वस्तुओं को, इन्द्रियों को, अनेक प्रकार के क्रोधादि द्रव्यकर्मों को और शरीरादि नोकर्मों को करता है।

यदि आत्मा निश्चय से भी परद्रव्यों को करे तो वह नियम से तन्मय (परद्रव्यमय) हो जाये, किन्तु वह तन्मय (परद्रव्यमय) नहीं है; इसलिए वह उनका कर्ता भी नहीं है।

आत्मा घट को नहीं करता, पट को नहीं करता और शेष अन्य द्रव्यों

को भी नहीं करता; किन्तु जीव घट-पट को करने के विकल्पवाले अपने योग और उपयोग का कर्ता अवश्य होता है।

(१०१)

जे पोग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी।।

ज्ञानावरण आदिक जु पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं।
उनको करे ना आतमा जो जानते वे ज्ञानि हैं।।

ज्ञानावरणादिक पुद्गल द्रव्यों के जो परिणाम हैं, उन्हें जो आत्मा करता नहीं है, परन्तु जानता है; वह आत्मा ज्ञानी है।

(१०२)

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा।।

निजकृत शुभाशुभभाव का कर्ता कहा है आतमा।
वे भाव उसके कर्म हैं वेदक है उनका आतमा।।

आत्मा जिस शुभ या अशुभ भाव को करता है, उस भाव का वह वास्तव में कर्ता होता है और वह भाव उसका कर्म होता है तथा वह आत्मा उस भाव का भोक्ता भी होता है।

(१०३-१०४)

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं।।
दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पोग्गलमयम्हि कम्मम्हि।
तं उभयमकुव्वंतो तम्हि कहं तस्स सो कत्ता।।

जब संक्रमण ना करे कोई द्रव्य पर-गुण-द्रव्य में।
तब करे कैसे परिणमन इक द्रव्य पर-गुण-द्रव्य में।।
कुछ भी करे ना जीव पुद्गल कर्म के गुण-द्रव्य में।
जब उभय का कर्ता नहीं तब किसतरह कर्ता कहें?।।

जो वस्तु जिस द्रव्य में और जिस गुण में वर्तती है, वह अन्य द्रव्य में या अन्य गुण में संक्रमण को प्राप्त नहीं होती। अन्यरूप से संक्रमण को प्राप्त न होती हुई वह वस्तु अन्य वस्तु को कैसे परिणमन करा सकती है ?

आत्मा पुद्गलमय कर्म के द्रव्य व गुण को नहीं करता। उन दोनों को न करता हुआ वह आत्मा उनका कर्ता कैसे हो सकता है ?

(१०५-१०६)

जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमेत्तेण।।
जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदं ति जंपदे लोगो।
ववहारेण तह कदं णाणावरणादि जीवेण।।

बंध का जो हेतु उस परिणाम को लख जीव में।
करम कीने जीव ने बस कह दिया उपचार से।।
रण में लड़े भट पर कहे जग युद्ध राजा ने किया।
बस उसतरह द्रवकर्म आतम ने किये व्यवहार से।।

जीव के निमित्तभूत होने पर कर्मबंध का परिणाम होता हुआ देखकर 'जीव ने कर्म किया' – इसप्रकार मात्र उपचार से कह दिया जाता है।

जिसप्रकार योद्धाओं के द्वारा युद्ध किये जाने पर 'राजा ने युद्ध किया' – इसप्रकार लोग कहते हैं; उसीप्रकार ज्ञानावरणादि कर्म जीव ने किया – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

(१०७-१०८)

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य।
आदा पोग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं।।
जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगो त्ति आलविदो।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो।।

ग्रहे बाँधे परिणमावे करे या पैदा करे।
पुद्गल दरव को आतमा व्यवहारनय का कथन है।।

गुण-दोष उत्पादक कहा ज्यों भूप को व्यवहार से।
त्यों जीव पुद्गल द्रव्य का कर्ता कहा व्यवहार से॥

आत्मा पुद्गल द्रव्य को उत्पन्न करता है, करता है, बाँधता है, परिणमन कराता है और ग्रहण करता है – यह व्यवहारनय का कथन है।

जिसप्रकार राजा को प्रजा के दोष और गुणों को उत्पन्न करनेवाला कहा जाता है; उसीप्रकार यहाँ जीव को पुद्गल द्रव्य के द्रव्य-गुणों को उत्पन्न करनेवाला कहा गया है।

(१०९ से ११२)

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा॥
तेसिं पुणो वि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो।
मिच्छादिट्ठी आदी जाव सजोगिस्स चरमंतं॥
एदे अचेदणा खलु पोग्गलकम्मुदयसंभवा जम्हा।
ते जदि करेंति कम्मं ण वि तेसिं वेदगो आदा॥
गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जम्हा।
तम्हा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि॥

मिथ्यात्व अरु अविरमण योग कषाय के परिणाम हैं।
सामान्य से ये चार प्रत्यय कर्म के कर्ता कहे॥
मिथ्यात्व आदि सयोगि-जिन तक जो कहे गुणथान हैं।
बस ये त्रयोदश भेद प्रत्यय के कहे जिनसूत्र में॥
पुद्गल करम के उदय से उत्पन्न ये सब अचेतन।
करम के कर्ता हैं ये वेदक नहीं है आतमा॥
गुण नाम के ये सभी प्रत्यय कर्म के कर्ता कहे।
कर्ता रहा ना जीव ये गुणथान ही कर्ता रहे॥

चार सामान्य प्रत्यय बंध के कर्ता कहे जाते हैं। उन्हें मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग के रूप में जानना चाहिए।

इन चार प्रत्ययों के मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर सयोगकेवली गुणस्थान पर्यन्त तेरह भेद कहे गये हैं।

ये सभी अचेतन हैं, क्योंकि पुद्‌गलकर्म के उदय से उत्पन्न होते हैं। यदि ये चार प्रत्यय या तेरह गुणस्थान रूप प्रत्यय कर्मों को करते हैं तो भले करें। आत्मा इन कर्मों का भोक्ता भी नहीं है।

चूँकि ये गुण नामक प्रत्यय अर्थात् गुणस्थान कर्म करते हैं, इसलिए जीव तो इन कर्मों का अकर्ता ही रहा और गुण ही कर्मों को करते हैं।

(११३ से ११५)

जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोहो वि तह जदि अणण्णो।
जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं।।
एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाऽजीवो।
अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं।।
अह दे अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा।
जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं।।

उपयोग जीव अनन्य ज्यों यदि त्यों हि क्रोध अनन्य हो।
तो जीव और अजीव दोनों एक ही हो जायेंगे।।
यदि जीव और अजीव दोनों एक हों तो इसतरह।
का दोष प्रत्यय कर्म अर नोकर्म में भी आयगा।।
क्रोधान्य है अर अन्य है उपयोगमय यह आतमा।
तो कर्म अरु नोकर्म प्रत्यय अन्य होंगे क्यों नहीं ?।।

जिसप्रकार जीव से उपयोग अनन्य है; उसीप्रकार यदि क्रोध भी जीव से अनन्य हो तो जीव और अजीव में अनन्यत्व हो जायेगा, एकत्व हो जायेगा।

ऐसा होने पर इस जगत में जो जीव है, वही नियम से अजीव ठहरेगा और इसीप्रकार का दोष प्रत्यय, कर्म और नोकर्म के साथ भी आयेगा।

यदि इस भय से तू यह कहे कि क्रोध अन्य है और उपयोगस्वरूपी

जीव अन्य है तो जिसप्रकार क्रोध जीव से अन्य होगा; उसीप्रकार प्रत्यय, कर्म और नोकर्म भी जीव से अन्य सिद्ध होंगे।

(११६ से १२०)

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण।
जइ पोग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि।।
कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा।।
जीवो परिणामयदे पोग्गलदव्वाणि कम्मभावेण।
ते सयमपरिणमंते कहं णु परिणामयदि चेदा।।
अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पोग्गलं दव्वं।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा।।
णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चिय होदि पोग्गलं दव्वं।
तह तं णाणावरणाइपरिणदं मुणसु तच्चेव।।

यदि स्वयं ही कर्मभाव से परिणत न हो ना बँधे ही।
तो अपरिणामी सिद्ध होगा कर्ममय पुद्गल दरव।।
कर्मत्व में यदि वर्गणाएँ परिणमित होंगी नहीं।
तो सिद्ध होगा सांख्यमत संसार की हो नास्ति।।
यदि परिणमावे जीव पुद्गल दरव को कर्मत्व में।
पर परिणमावे किसतरह वह अपरिणामी वस्तु को।।
यदि स्वयं ही परिणमें वे पुद्गल दरव कर्मत्व में।
मिथ्या रही यह बात उनको परिणमावें आतमा।।
जड़कर्म परिणत जिसतरह पुद्गल दरव ही कर्म है।
जड़ज्ञान-आवरणादि परिणत ज्ञान-आवरणादि हैं।।

'यह पुद्गलद्रव्य जीव में स्वयं नहीं बँधा और कर्मभाव से स्वयं परिणमित नहीं हुआ' – यदि ऐसा माना जाये तो वह पुद्गलद्रव्य अपरिणामी सिद्ध होता है और कार्मणवर्गणाएँ कर्मभाव से परिणमित

नहीं होने से संसार का अभाव सिद्ध होता है अथवा सांख्यमत का प्रसंग आता है। यदि ऐसा माना जाये कि जीव पुद्गलद्रव्यों को कर्मभाव से परिणमाता है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि स्वयं नहीं परिणमती हुई उन कार्मणवर्गणाओं को चेतन आत्मा कैसे परिणमन करा सकता है ?

यदि ऐसा माना जाये कि पुद्गल द्रव्य अपने आप ही कर्मभाव से परिणमन करता है तो जीव कर्म (पुद्गलद्रव्य) को कर्मरूप परिणमन कराता है – यह कथन मिथ्या सिद्ध होता है। अतः ऐसा जानो कि जिसप्रकार नियम से कर्मरूप (कर्ता के कार्यरूप) परिणमित पुद्गलद्रव्य कर्म ही है; उसीप्रकार ज्ञानावरणादिरूप परिणत पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि ही है।

(१२१ से १२५)

ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं।
जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि॥
अपरिणमंतम्हि सयं जीवे कोहादिएहिं भावेहिं।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा॥
पोग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं।
तं सयमपरिणमंतं कहं णु परिणामयदि कोहो॥
अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी।
कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा॥
कोहुवजुत्तो कोहो माणवजुत्तो य माणमेवादा।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो॥

यदि स्वयं ही ना बँधे अर क्रोधादिमय परिणत न हो।
तो अपरिणामी सिद्ध होगा जीव तेरे मत विषें॥
स्वयं ही क्रोधादि में यदि जीव ना हो परिणमित।
तो सिद्ध होगा सांख्यमत संसार की हो नास्ति॥
यदि परिणमावे कर्म जड़ क्रोधादि में इस जीव को।
पर परिणमावे किसतरह वह अपरिणामी वस्तु को॥

यदि स्वयं ही क्रोधादि में परिणमित हो यह आतमा।
मिथ्या रही यह बात उसको परिणमावे कर्म जड़॥
क्रोधोपयोगी क्रोध है मानोपयोगी मान है।
मायोपयोगी माया है लोभोपयोगी लोभ है॥

'यह जीव कर्म में स्वयं नहीं बँधता और क्रोधादिभाव में स्वयमेव नहीं परिणमता' – यदि ऐसा तेरा मत है तो यह जीव द्रव्य अपरिणामी सिद्ध होगा। जीव द्रव्य स्वयं क्रोधादिभावरूप परिणमित नहीं होने से संसार का अभाव सिद्ध होता है अथवा सांख्यमत का प्रसंग आता है।

यदि ऐसा माना जाये कि क्रोधरूप पुद्‌गलकर्म जीव को क्रोधरूप परिणमन कराता है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि स्वयं नहीं परिणमते हुए जीव को क्रोधकर्म, क्रोधरूप कैसे परिणमा सकता है ?

तथा यदि ऐसा माना जाये कि आत्मा स्वयं ही क्रोधभावरूप से परिणमता है तो फिर – क्रोधकर्म जीव को क्रोधरूप परिणमाता है – यह कथन मिथ्या सिद्ध होता है।

अतः यह मानना ही ठीक है कि क्रोध में उपयुक्त आत्मा क्रोध ही है, मान में उपयुक्त आत्मा मान ही है और माया में उपयुक्त आत्मा माया ही है और लोभ में उपयुक्त आत्मा लोभ ही है।

(१२६–१२७)

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स।
णाणिस्स स णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स॥
अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि।
णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तम्हा दु कम्माणि॥

जो भाव आतम करे वह उस कर्म का कर्ता बने।
ज्ञानियों के ज्ञानमय अज्ञानि के अज्ञानमय॥
अज्ञानमय हैं भाव इससे अज्ञ कर्ता कर्म का।
बस ज्ञानमय हैं इसलिए ना विज्ञ कर्ता कर्म का॥

आत्मा जिस भाव को करता है, वह उस भावरूप कर्म का कर्ता होता है। अज्ञानी के वे भाव अज्ञानमय होते हैं और ज्ञानी के ज्ञानमय।

अज्ञानी के भाव अज्ञानमय होने से अज्ञानी कर्मों को करता है और ज्ञानी के भाव ज्ञानमय होने से ज्ञानी कर्मों को नहीं करता।

(१२८-१२९)

णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो।
जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा हु णाणमया।।
अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायदे भावो।
जम्हा तम्हा भावा अण्णाणमया अणाणिस्स।।

ज्ञानमय परिणाम से परिणाम हों सब ज्ञानमय।
बस इसलिए सद्ज्ञानियों के भाव हों सद्ज्ञानमय।।
अज्ञानमय परिणाम से परिणाम हों अज्ञानमय।
बस इसलिए अज्ञानियों के भाव हों अज्ञानमय।।

क्योंकि ज्ञानमय भाव में से ज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होते हैं; इसलिए ज्ञानियों के समस्त भाव ज्ञानमय ही होते हैं।

क्योंकि अज्ञानमय भाव में से अज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होते हैं; इसलिए अज्ञानियों के सभी भाव अज्ञानमय ही होते हैं।

(१३०-१३१)

कणयमया भावादो जायंते कुण्डलादओ भावा।
अयमयया भावादो जह जायंते दु कडयादी।।
अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते।
णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति।।

स्वर्णनिर्मित कुण्डलादि स्वर्णमय ही हों सदा।
लोहनिर्मित कटक आदि लोहमय ही हों सदा।।
इस ही तरह अज्ञानियों के भाव हों अज्ञानमय।
इस ही तरह सब भाव हों सद्ज्ञानियों के ज्ञानमय।।

जिसप्रकार स्वर्णमयभाव में से स्वर्णमय कुण्डल आदि बनते हैं और लोहमय भाव में से लोहमय कड़ा आदि बनते हैं।

उसीप्रकार अज्ञानियों के अनेकप्रकार के अज्ञानमय भाव होते हैं और ज्ञानियों के सभी भाव ज्ञानमय होते हैं।

(१३२ से १३६)

अण्णाणस्स स उदओ जा जीवाणं अतच्चउवलद्धी।
मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्तं।।
उदओ असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेइ अविरमणं।
जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ।।
तं जाण जोग उदयं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो।
सोहणमसोहण वा कायव्वो विरदिभावो वा।।
एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागदं जं तु।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं।।
तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागदं जइया।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं।।

निजतत्त्व का अज्ञान ही बस उदय है अज्ञान का।
निजतत्त्व का अश्रद्धान ही बस उदय है मिथ्यात्व का।।
अविरमण का सद्भाव ही बस असंयम का उदय है।
उपयोग की यह कलुषिता ही कषायों का उदय है।।
शुभ अशुभ चेष्टा में तथा निवृत्ति में या प्रवृत्ति में।
जो चित्त का उत्साह है वह ही उदय है योग का।।
इनके निमित्त के योग से जड़ वर्गणाएँ कर्म की।
परिणमित हों ज्ञान-आवरणादि वसुविध कर्म में।।
इस तरह वसुविध कर्म से आबद्ध जिय जब हो तभी।
अज्ञानमय निजभाव का हो हेतु जिय जिनवर कही।।

जीवों के जो अतत्त्व की उपलब्धि है, तत्त्व संबंधी अज्ञान है, वह

अज्ञान का उदय है; जो तत्त्व का अश्रद्धान है, वह मिथ्यात्व का उदय है; जो अविरमण है, अत्याग का भाव है, वह असंयम का उदय है; जो मलिन उपयोग है, वह कषाय का उदय है। जो शुभ या अशुभ, प्रवृत्तिरूप या निवृत्तिरूप चेष्टा का उत्साह है, उसे योग का उदय जानो।

इन उदयों के हेतुभूत होने पर जो कार्माणवर्गणागत पुद्‌गलद्रव्य ज्ञानावरणादि भावरूप से आठ प्रकार परिणमता है, वह कार्माणवर्गणागत पुद्‌गलद्रव्य जब जीव से बँधता है; तब जीव अपने अज्ञानमय परिणाम भावों का हेतु होता है।

(१३७ से १४०)

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा हु होंति रागादी।
एवं जीवो कम्मं च दो वि रागादिमावण्णा॥
एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं।
ता कम्मोदयहेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो॥
जइ जीवेण सह च्चिय पोग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो।
एवं पोग्गलजीवा हु दो वि कम्मत्तमावण्णा॥
एकस्स दु परिणामो पोग्गलदव्वस्स कम्मभावेण।
ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो॥

इस जीव के रागादि पुद्‌गलकर्म में भी हों यदी।
तो जीववत् जड़कर्म भी रागादिमय हो जायेंगे॥
किन्तु जब जड़कर्म बिन ही जीव के रागादि हों।
तब कर्मजड़ पुद्‌गलमयी रागादिमय कैसे बनें॥
यदि कर्ममय परिणाम पुद्‌गल द्रव्य का जिय साथ हो।
तो जीव भी जड़कर्मवत् कर्मत्व को ही प्राप्त हो॥
किन्तु जब जियभाव बिन ही एक पुद्‌गल द्रव्य का।
यह कर्ममय परिणाम है तो जीव जड़मय क्यों बने ?॥

जीव को कर्म के साथ ही रागादि परिणाम होते हैं अर्थात् कर्म और

जीव दोनों मिलकर रागादिरूप परिणमित होते हैं' – यदि ऐसा माना जाये तो जीव और कर्म दोनों ही रागादिभावपने को प्राप्त हो जायें; परन्तु रागादिभावरूप तो एक जीव ही परिणमित होता है। इसकारण कर्मोदयरूप हेतु के बिना ही रागादिभाव जीव के परिणाम हैं।

इसीप्रकार 'पुद्गलद्रव्य का जीव के साथ ही कर्मरूप परिणाम होता है अर्थात् जीव और पुद्गल दोनों मिलकर कर्मरूप परिणमित होते हैं' – यदि ऐसा माना जाये तो पुद्गल और जीव दोनों ही कर्मत्व को प्राप्त हो जायें; परन्तु कर्मरूप परिणमित तो एक पुद्गलद्रव्य ही होता है, इसकारण जीवभाव के हेतु बिना ही कर्म पुद्गल का परिणाम है।

(१४१)

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवदि कम्मं।।

कर्म से आबद्ध जिय यह कथन है व्यवहार का।
पर कर्म से ना बद्ध जिय यह कथन है परमार्थ का।।

जीव में कर्म बँधा हुआ है और स्पर्शित है – ऐसा व्यवहारनय का कथन है और जीव में कर्म अबद्ध और अस्पर्शित है – यह शुद्धनय का कथन है।

(१४२)

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खादिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो।।

अबद्ध है या बद्ध है जिय यह सभी नयपक्ष हैं।
नयपक्ष से अतिक्रान्त जो वह ही समय का सार है।।

जीव में कर्म बद्ध या अबद्ध हैं – इसप्रकार तो नय पक्ष जानो; किन्तु जो पक्षातिक्रान्त कहलाता है, समयसार तो वह है, शुद्धात्मा तो वह है।

(१४३)

दोण्ह वि णयाण भणिदं जाणदि णवरं तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचि वि णयपक्खपरिहीणो।।

दोनों नयों को जानते पर ना ग्रहे नयपक्ष को।
नयपक्ष से परिहीन पर निज समय से प्रतिबद्ध वे।।

नयपक्ष से रहित जीव समय से प्रतिबद्ध होता हुआ, चित्स्वरूप आत्मा का अनुभव करता हुआ दोनों ही नयों के कथनों को मात्र जानता ही है, किन्तु नयपक्ष को किंचित्मात्र भी ग्रहण नहीं करता।

(१४४)

सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदि त्ति णवरि ववदेसं।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो।।

विरहित सभी नयपक्ष से जो वह समय का सार है।
है वही सम्यग्ज्ञान एवं वही समकित सार है।।

जो सर्वनयपक्षों से रहित कहा गया है, वह समयसार है। इसी समयसार को ही केवल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान – ऐसी संज्ञा (नाम) मिलती है।

तात्पर्य यह है कि नामों से भिन्न होने पर भी वस्तु एक ही है। •

(हरिगीत)

सब पुद्गलों में है स्वभाविक परिणमन की शक्ति जब।
और उनके परिणमन में है न कोई विघ्न जब।।
क्यों न हो तब स्वयं कर्ता स्वयं के परिणमन का।
सहज ही यह नियम जानो वस्तु के परिणमन का।।६४।।

आतमा में है स्वभाविक परिणमन की शक्ति जब।
और उसके परिणमन में है न कोई विघ्न जब।।
क्यों न हो तब स्वयं कर्ता स्वयं के परिणमन का।
सहज ही यह नियम जानो वस्तु के परिणमन का।।६५।।

इसप्रकार पुद्गलद्रव्य की स्वभावभूत परिणामशक्ति निर्विघ्न सिद्ध हुई और उसके सिद्ध होने पर पुद्गलद्रव्य अपने जिस भाव को करता है, उसका वह पुद्गलद्रव्य ही कर्ता है।

इसप्रकार जीव की स्वभावभूत परिणमनशक्ति निर्विघ्न सिद्ध होने पर जीव अपने जिस भाव को करता है, उस भाव का कर्ता होता है।

–समयसार कलश पद्यानुवाद

३

पुण्य-पापाधिकार

(१४५)

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि।।

सुशील हैं शुभ कर्म और अशुभ करम कुशील हैं।
संसार के हैं हेतु वे कैसे कहें कि सुशील हैं?।।

अशुभ कर्म कुशील हैं और शुभकर्म सुशील हैं – ऐसा तुम जानते हो; किन्तु जो जीवों को संसार में प्रवेश करायें, वे सुशील कैसे हो सकते हैं ?

(१४६ से १४९)

सोवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं।।
तम्हा दु कुसीलेहि य रागं मा कुणह मा व संसग्गं।
साहीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण।।
जह णाम कोवि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता।
वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रागकरणं च।।
एमेव कम्मपयडीसीलसहावं च कुच्छिदं णादुं।
वज्जंति परिहरंति य तस्संसग्गं सहावरदा।।

ज्यों लोह बेड़ी बाँधती त्यों स्वर्ण की भी बाँधती।
इस भाँति ही शुभ-अशुभ दोनों कर्म बेड़ी बाँधती।।
दु:शील के संसर्ग से स्वाधीनता का नाश हो।
दु:शील से संसर्ग एवं राग को तुम मत करो।।
जगतजन जिसतरह कुत्सितशील जन को जानकर।
उस पुरुष से संसर्ग एवं राग करना त्यागते।।

बस उसतरह ही कर्म कुत्सित शील हैं – यह जानकर।
निजभावरत जन कर्म से संसर्ग को हैं त्यागते॥

जिसप्रकार लोहे की बेड़ी के समान ही सोने की बेड़ी भी पुरुष को बाँधती है; उसीप्रकार अशुभकर्म के समान ही शुभकर्म भी जीव को बाँधता है।

इसलिए इन दोनों कुशीलों के साथ राग और संसर्ग मत करो; क्योंकि कुशील के साथ राग और संसर्ग करने से स्वाधीनता का नाश होता है।

जिसप्रकार कोई पुरुष कुशील पुरुष को जानकर उसके साथ राग करना और संसर्ग करना छोड़ देता है; उसीप्रकार स्वभाव में रत पुरुष कर्म प्रकृति के कुत्सितशील (कुशील) को जानकर संसर्ग करना छोड़ देते हैं।

(१५०)

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि जीवो विरागसंपत्तो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज॥

विरक्त शिवरमणी वरें अनुरक्त बाँधें कर्म को।
जिनदेव का उपदेश यह मत कर्म में अनुरक्त हो॥

रागी जीव कर्म बाँधता है और वैराग्य को प्राप्त जीव कर्मों से छूटता है; यह जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है, इसलिए कर्मों (शुभाशुभ कर्मों) से राग मत करो।

(१५१)

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
तम्हि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं॥

परमार्थ है है ज्ञानमय है समय शुध मुनि केवली।
इसमें रहें थिर अचल जो निर्वाण पावें वे मुनी॥

जो निश्चय से परमार्थ (परम पदार्थ) है, समय है, शुद्ध है, केवली है, मुनि है, ज्ञानी है; उस स्वभाव में स्थित मुनिजन निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

(१५२–१५३)

परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेदि।
तं सव्वं बालतवं बालवदं बेंति सव्वण्हू।।
वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति।।

परमार्थ से हों दूर पर तप करें व्रत धारण करें।
सब बालतप हैं बालव्रत वृषभादि सब जिनवर कहें।।
व्रत नियम सब धारण करें तप शील भी पालन करें।
पर दूर हों परमार्थ से ना मुक्ति की प्राप्ति करें।।

परमार्थ में अस्थित जो जीव तप करता है और व्रत धारण करता है; उसके उन सभी तप और व्रतों को सर्वज्ञदेव बालतप और बालव्रत कहते हैं।

जो परमार्थ से बाह्य हैं; वे व्रत और नियमों को धारण करते हुए भी, शील और तप को करते हुए भी निर्वाण को प्राप्त नहीं करते।

(१५४)

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं पि मोक्खहेदुं अजाणंता।।

परमार्थ से हैं बाह्य वे जो मोक्षमग नहीं जानते।
अज्ञान से भवगमन-कारण पुण्य को हैं चाहते।।

जो जीव परमार्थ से बाह्य हैं, वे मोक्ष के वास्तविक हेतु को न जानते हुए अज्ञान से संसार गमन का हेतु होने पर भी मोक्ष का हेतु समझकर पुण्य को चाहते हैं।

(१५५)

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।
रागादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो।।

जीवादि का श्रद्धान सम्यक् ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।
रागादि का परिहार चारित – यही मुक्तिमार्ग है।।

जीवादि पदार्थों का श्रद्धान सम्यक्त्व है, उन्हीं जीवादि पदार्थों का अधिगम (जानना) ज्ञान है और रागादि का त्याग चारित्र है – यही मोक्ष का मार्ग है।

(१५६)

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ।।

विद्वानगण भूतार्थ तज वर्तन करें व्यवहार में।
पर कर्मक्षय तो कहा है परमार्थ-आश्रित संत के।।

विद्वान लोग निश्चयनय के विषयभूत निज भगवान आत्मारूप परम-अर्थ को छोड़कर व्यवहार में प्रवर्तते हैं; किन्तु कर्मों का नाश तो निज भगवान आत्मारूप परम-अर्थ का आश्रय लेनेवाले यतीश्वरों (मुनिराजों) के ही कहा गया है।

(१५७ से १५९)

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णादव्वं ।।
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
अण्णाणमलोच्छण्णं तह णाणं होदि णादव्वं ।।
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
कसायमलोच्छण्णं तह चारित्तं पि णादव्वं ।।

ज्यों श्वेतपन हो नष्ट पट का मैल के संयोग से।
सम्यक्त्व भी त्यों नष्ट हो मिथ्यात्व मल के लेप से।।
ज्यों श्वेतपन हो नष्ट पट का मैल के संयोग से।
सद्ज्ञान भी त्यों नष्ट हो अज्ञानमल के लेप से।।
ज्यों श्वेतपन हो नष्ट पट का मैल के संयोग से।
चारित्र भी त्यों नष्ट होय कषायमल के लेप से।।

जिसप्रकार कपड़े की सफेदी मैल के मिलने से नष्ट हो जाती है, तिरोभूत हो जाती है; उसीप्रकार मिथ्यात्वरूपी मैल से लिप्त होने पर सम्यक्त्व तिरोहित हो जाता है – ऐसा जानना चाहिए।

जिसप्रकार कपड़े की सफेदी मैल के मिलने से नष्ट हो जाती है, तिरोभूत हो जाती है; उसी प्रकार अज्ञानरूपी मैल से लिप्त होने पर ज्ञान तिरोभूत हो जाता है – ऐसा जानना चाहिए।

जिसप्रकार कपड़े की सफेदी मैल के मिलने से नष्ट हो जाती है, तिरोभूत हो जाती है; उसी प्रकार कषायरूपी मैल से लिप्त होने पर चारित्र तिरोभूत हो जाता है – ऐसा जानना चाहिए।

(१६०)

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरएण णियेणावच्छण्णो।
संसारसमावण्णो ण विजाणदि सव्वदो सव्वं।।

सर्वदर्शी सर्वज्ञानी कर्मरज आछन्न हो।
संसार को सम्प्राप्त कर सबको न जाने सर्वतः।।

यद्यपि वह आत्मा सबको देखने–जानने के स्वभाववाला है; तथापि अपने कर्ममल से लिप्त होता हुआ, संसार को प्राप्त होता हुआ; सर्वप्रकार से सबको नहीं जानता।

(१६१ से १६३)

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठि त्ति णादव्वो।।
णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णादव्वो।।
चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णादव्वो।।

सम्यक्त्व प्रतिबंधक करम मिथ्यात्व जिनवर ने कहा।
उसके उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है सदा।।

सद्ज्ञान प्रतिबंधक करम अज्ञान जिनवर ने कहा।
उसके उदय से जीव अज्ञानी बने – यह जानना।।
चारित्र प्रतिबंधक करम जिन ने कषायों को कहा।
उसके उदय से जीव चारित्रहीन हो यह जानना।।

सम्यक्त्व का प्रतिबंधक मिथ्यात्व है – ऐसा जिनवरों ने कहा है। उसके उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है; ऐसा जानना चाहिए।

ज्ञान का प्रतिबंधक अज्ञान है – ऐसा जिनवरों ने कहा है। उसके उदय से जीव अज्ञानी होता है; ऐसा जानना चहिए।

चारित्र की प्रतिबंधक कषाय है – ऐसा जिनवरों ने कहा है। उसके उदय से जीव अचारित्रवान होता है; ऐसा जानना चाहिए। •

(शार्दूलविक्रीडित)

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना
संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा।
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भवन्
नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति।।१०९।।

(हरिगीत)

त्याज्य ही हैं जब मुमुक्षु के लिए सब कर्म ये।
तब पुण्य एवं पाप की यह बात करनी किसलिए।।
निज आतमा के लक्ष्य से जब परिणमन हो जायगा।
निष्कर्म में ही रस जगे तब ज्ञान दौड़ा आयगा।।१०९।।

मोक्षार्थियों के लिए समस्त ही कर्म त्याग करने योग्य हैं। जब यह सुनिश्चित है, तब फिर पुण्य और पाप कर्मों की चर्चा ही क्या करना; क्योंकि सभी कर्म त्याज्य होने से पुण्य भला और पाप बुरा – यह बात ही कहाँ रह जाती है ? ऐसी स्थिति होने पर सम्यक्त्वादि निजस्वभाव के परिणमन से मोक्ष की कारणभूत निष्कर्म अवस्था का रसिक ज्ञान स्वयं ही दौड़ा चला आता है।

– समयसार कलश पद्यानुवाद

(४)

आस्रवाधिकार

(१६४-१६५)

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु।
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा।।
णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति।
तेसिं पि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो।।

मिथ्यात्व अविरति योग और कषाय चेतन-अचेतन।
चितरूप जो हैं वे सभी चैतन्य के परिणाम हैं।।
ज्ञानावरण आदिक अचेतन कर्म के कारण बने।
उनका भी तो कारण बने रागादि कारक जीव यह।।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग – ये चार आस्रवभाव संज्ञ अर्थात् चेतन के विकाररूप भी हैं और असंज्ञ अर्थात् पुद्गल के विकाररूप भी हैं। जीव में उत्पन्न और अनेक भेदोंवाले संज्ञ आस्रव अर्थात् भावास्रव जीव के ही अनन्य परिणाम हैं।

असंज्ञ आस्रव अर्थात् मिथ्यात्वादि द्रव्यास्रव ज्ञानावरणादि कर्मों के बंधन में कारण (निमित्त) होते हैं और उन मिथ्यात्वादि भावों के होने में राग-द्वेष करनेवाला जीव कारण (निमित्त) होता है।

(१६६)

णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो।
संते पुव्वणिबद्धे जाणदि सो ते अबंधंतो।।

है नहीं आस्रव बंध क्योंकि आस्रवों का रोध है।
सद्दृष्टि उनको जानता जो कर्म पूर्वनिबद्ध हैं।।

सम्यग्दृष्टि के आस्रव जिसका निमित्त है – ऐसा बंध नहीं होता; क्योंकि उसके आस्रवों का निरोध है। नवीन कर्मों को नहीं बाँधता हुआ वह सम्यग्दृष्टि सत्ता में रहे हुए पूर्वकर्मों को मात्र जानता है।

(१६७)

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो।
रागादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि।।

जीवकृत रागादि ही बंधक कहे हैं सूत्र में।
रागादि से जो रहित वह ज्ञायक अबंधक जानना।।

जीवकृत रागादि भाव ही नवीन कर्मों का बंध करनेवाले कहे गये हैं, रागादि से रहित भाव बंधक नहीं हैं; क्योंकि वे तो मात्र ज्ञायक ही हैं।

(१६८)

पक्के फलम्हि पडिए जह ण फलं बज्झए पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुवेदि।।

पक्वफल जिसतरह गिरकर नहीं जुड़ता वृक्ष से।
बस उसतरह ही कर्म खिरकर नहीं जुड़ते जीव से।।

जिसप्रकार पके हुए फल के गिर जाने पर, वह फल फिर उसी डंठल पर नहीं बँधता, उसीप्रकार जीव के कर्मभाव के झड़ जाने पर फिर वह उदय को प्राप्त नहीं होता।

(१६९)

पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स।
कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वे वि णाणिस्स।।

जो बँधे थे भूत में वे कर्म पृथ्वीपिण्ड सम।
वे सभी कर्म शरीर से हैं बद्ध सम्यग्ज्ञानि के।।

उस ज्ञानी के पूर्वबद्ध समस्त प्रत्यय पृथ्वी (मिट्टी) के ढेले के समान हैं और वे मात्र कार्मणशरीर के साथ बँधे हुए हैं।

(१७०-१७१)

चउविह अणेयभेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं ।
समए समए जम्हा तेण अबंधो ति णाणी दु ।।
जम्हा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणो वि परिणमदि ।
अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो ।।

प्रतिसमय विध-विध कर्म को सब ज्ञान-दर्शन गुणों से।
बाँधे चतुर्विध प्रत्यय ही ज्ञानी अबंधक इसलिए।।
ज्ञानगुण का परिणमन जब हो जघन्यहि रूप में।
अन्यत्व में परिणमे तब इसलिए ही बंधक कहा।।

चार प्रकार के द्रव्यास्रव (द्रव्यप्रत्यय) ज्ञानदर्शन गुणों के द्वारा समय-समय पर अनेक प्रकार के कर्मों को बाँधते हैं, इसकारण ज्ञानी तो अबंध ही है; क्योंकि ज्ञानगुण जघन्य ज्ञानगुण के कारण फिर भी अन्यरूप से परिणमन करता है; इसलिए वह ज्ञानगुण कर्मों का बंधक कहा गया है ।

(१७२)

दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण ।
णाणी तेण दु बज्झदि पोग्गलकम्मेण विविहेण ।।

ज्ञान-दर्शन-चरित गुण जब जघनभाव से परिणमे।
तब विविध पुद्गल कर्म से इसलोक में ज्ञानी बँधे।।

क्योंकि उक्त ज्ञानी के दर्शन, ज्ञान और चारित्र जघन्यभाव से परिणमित होते हैं; इसलिए ज्ञानी अनेक प्रकार के पुद्गलकर्म से बँधता है ।

(१७३ से १७६)

सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया अत्थि सम्मदिट्ठिस्स ।
उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण ।।
होदूण णिरुवभोज्जा तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा ।
सत्तट्ठविहा भूदा णाणावरणादिभावेहिं ।।

संता दु णिरुवभोज्जा बाला इत्थी जहेह पुरिसस्स।
बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स।।
एदेण कारणेण दु सम्मादिट्ठी अबंधगो भणिदो।
आसवभावाभावे ण पच्चया बंधगा भणिदा।।

पहले बँधे सद्दृष्टिओं के कर्मप्रत्यय सत्त्व में।
उपयोग के अनुसार वे ही कर्म का बंधन करें।।
अनभोग्य हो उपभोग्य हों वे सभी प्रत्यय जिसतरह।
ज्ञान-आवरणादि वसुविध कर्म बाँधे उसतरह।।
बालवनिता की तरह वे सत्त्व में अनभोग्य हैं।
पर तरुणवनिता की तरह उपभोग्य होकर बाँधते।।
बस इसलिए सद्दृष्टियों को अबंधक जिन ने कहा।
क्योंकि आस्रवभाव बिन प्रत्यय न बंधन कर सके।।

सम्यग्दृष्टिजीव के पूर्वबद्ध समस्त प्रत्यय (द्रव्यास्रव) सत्तारूप में विद्यमान हैं। वे उपयोग के प्रयोगानुसार कर्मभाव (रागादि) के द्वारा नवीन बंध करते हैं।

निरुपभोग्य होकर भी वे प्रत्यय जिसप्रकार उपभोग्य होते हैं; उसीप्रकार सात-आठ प्रकार के ज्ञानावरणादि कर्मों को बाँधते हैं।

जिसप्रकार जगत में बाल स्त्री पुरुष के लिए निरुपभोग्य है और तरुण स्त्री (युवती) पुरुष को बाँध लेती है; उसीप्रकार सत्ता में पड़े हुए वे कर्म निरुपभोग्य हैं और उपभोग्य होने पर, उदय में आने पर बंधन करते हैं।

इसकारण से सम्यग्दृष्टि को अबंधक कहा है; क्योंकि आस्रवभाव के अभाव में प्रत्ययों को बंधक नहीं कहा है।

(१७७-१७८)

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स।
तम्हा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति।।

हेदू चदुव्वियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं।
तेसिं पि य रागादी तेसिमभावे ण बज्झंति।।

रागादि आस्रवभाव जो सद्दृष्टियों के वे नहीं।
इसलिए आस्रवभाव बिन प्रत्यय न हेतु बंध के।।
अष्टविध कर्मों के कारण चार प्रत्यय ही कहे।
रागादि उनके हेतु हैं उनके बिना बंधन नहीं।।

राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवभाव सम्यग्दृष्टियों के नहीं होते; इसलिए उन्हें आस्रवभाव के बिना द्रव्यप्रत्यय कर्मबंध के कारण नहीं होते।

मिथ्यात्वादि चार प्रकार के हेतु आठ प्रकार के कर्मों के बंध के कारण कहे गये हैं और उनके भी कारण जीव के रागादि भाव हैं।

(१७९-१८०)

जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेयविहं।
मंसवसारुहिरादी भावे उदरग्गिसंजुत्तो।।
तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं।
बज्झंते कम्मं ते णयपरिहीणा दु ते जीवा।।

जगजन ग्रसित आहार ज्यों जठराग्नि के संयोग से।
परिणमित होता वसा में मज्जा रुधिर मांसादि में।।
शुद्धनय परिहीन ज्ञानी के बँधे जो पूर्व में।
वे कर्म प्रत्यय ही जगत में बाँधते हैं कर्म को।।

जिसप्रकार पुरुष के द्वारा ग्रहण किया हुआ आहार जठराग्नि के संयोग से अनेकप्रकार मांस, चर्बी, रुधिर आदि रूप परिणमित होता है; उसीप्रकार शुद्धनय से च्युत ज्ञानी जीवों के पूर्वबद्ध द्रव्यास्रव अनेक प्रकार के कर्म बाँधते हैं। ●

(दोहा)

राग-द्वेष अर मोह ही, केवल बंधकभाव।
ज्ञानी के ये हैं नहीं, तातैं बंध अभाव।।११९।।

—समयसार कलश पद्यानुवाद

५

संवराधिकार

(१८१ से १८३)

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि को वि उवओगो।
कोहो कोहे चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो ।।
अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो।
उवओगम्हि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि ।।
एदं दु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स।
तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओगसुद्धप्पा ।।

उपयोग में उपयोग है क्रोधादि में उपयोग ना।
बस क्रोध में है क्रोध पर उपयोग में है क्रोध ना।।
अष्टविध द्रवकर्म में नोकर्म में उपयोग ना।
इस ही तरह उपयोग में भी कर्म ना नोकर्म ना।।
विपरीतता से रहित इस विधि जीव को जब ज्ञान हो।
उपयोग के अतिरिक्त कुछ भी ना करे तब आतमा।।

उपयोग में उपयोग है, क्रोधादि में उपयोग नहीं है और क्रोध क्रोध में ही है, उपयोग में क्रोध नहीं है। इसीप्रकार आठ प्रकार के कर्मों में और नोकर्म में भी उपयोग नहीं है और उपयोग में कर्म व नोकर्म नहीं हैं। जब जीव को इसप्रकार का अविपरीत ज्ञान होता है, तब यह उपयोगस्वरूप शुद्धात्मा उपयोग के अतिरिक्त अन्य किसी भी भाव को नहीं करता।

(१८४-१८५)

जह कणयमग्गितवियं पि कणयभावं ण तं परिच्चयदि।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी दु णाणित्तं ।।

एवं जाणदि णाणी अण्णाणी मुणदि रागमेवादं।
अण्णाणतमोच्छण्णो आदसहावं अयाणंतो।।

ज्यों अग्नि से संतप्त सोना स्वर्णभाव नहीं तजे।
त्यों कर्म से संतप्त ज्ञानी ज्ञानभाव नहीं तजे।।
जानता यह ज्ञानि पर अज्ञानतम आछन्न जो।
वे आतमा जानें न मानें राग को ही आतमा।।

जिसप्रकार सुवर्ण अग्नि से तप्त होता हुआ भी अपने सुवर्णत्व को नहीं छोड़ता; उसीप्रकार ज्ञानी कर्मोदय से तप्त होता हुआ भी ज्ञानीपने को नहीं छोड़ता – ज्ञानी ऐसा जानता है और अज्ञानी अज्ञानान्धकार से आच्छादित होने से आत्मा के स्वभाव को न जानता हुआ राग को ही आत्मा मानता है।

(१८६)

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि।।

जो जानता मैं शुद्ध हूँ वह शुद्धता को प्राप्त हो।
जो जानता अविशुद्ध वह अविशुद्धता को प्राप्त हो।।

शुद्धात्मा को जानता हुआ, अनुभव करता हुआ जीव शुद्धात्मा को ही प्राप्त करता है और अशुद्धात्मा को जानता हुआ, अनुभव करता हुआ जीव अशुद्धात्मा को ही प्राप्त करता है।

(१८७ से १८९)

अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दोपुण्णपावजोगेसु।
दंसणणाणम्हि ठिदो इच्छाविरदो य अण्णम्हि।।
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा।
ण वि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं।।
अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ।
लहदि अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं।।

पुण्य एवं पाप से निज आतमा को रोककर।
अन्य आशा से विरत हो ज्ञान-दर्शन में रहें॥
विरहित करम नोकरम से निज आत्म के एकत्व को।
निज आतमा को स्वयं ध्यावें सर्व संग विमुक्त हो॥
ज्ञान-दर्शन मय निजातम को सदा जो ध्यावते।
अत्यल्पकाल स्वकाल में वे सर्व कर्म विमुक्त हों॥

आत्मा को आत्मा के ही द्वारा पुण्य-पाप इन दोनों योगों से रोककर दर्शन-ज्ञान में स्थित होता हुआ और अन्य वस्तुओं की इच्छा से विरत होता हुआ, जो आत्मा सर्वसंग से रहित होता हुआ, अपने आत्मा को आत्मा के द्वारा ध्याता है और कर्म तथा नोकर्म को नहीं ध्याता एवं स्वयं चेतयितापन होने से एकत्व का चिन्तवन करता है, अनुभव करता है; वह आत्मा, आत्मा को ध्याता हुआ, दर्शन-ज्ञानमय और आनन्दमय होता हुआ अल्पकाल में ही कर्मों से रहित आत्मा को प्राप्त करता है।

(१९० से १९२)

तेसिं हेदू भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरिसीहिं।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य॥
हेदुअभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स वि णिरोहो॥
कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं पि जायदि णिरोहो।
णोकम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होदि॥

बंध के कारण कहे हैं भाव अध्यवसान ही।
मिथ्यात्व अर अज्ञान अविरत-भाव एवं योग भी॥
इनके बिना है आस्रवों का रोध सम्यग्ज्ञानि के।
अर आस्रवों के रोध से ही कर्म का भी रोध है॥
कर्म के अवरोध से नोकर्म का अवरोध हो।
नोकर्म के अवरोध से संसार का अवरोध हो॥

पूर्वकथित मोह–राग–द्वेष रूप आस्रवभावों के हेतु मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरतभाव और योग – ये चार अध्यवसान हैं – ऐसा सर्वदर्शी भगवानों ने कहा है। हेतुओं का अभाव होने से ज्ञानियों के नियम से आस्रवभावों का निरोध होता है और आस्रवभावों के अभाव से कर्मों का भी निरोध होता है। कर्म के निरोध से नोकर्मों का निरोध होता है और नोकर्मों के निरोध से संसार का निरोध होता है। •

(रोला)

अबतक जो भी हुए सिद्ध या आगे होंगे।
महिमा जानो एकमात्र सब भेदज्ञान की॥
और जीव जो भटक रहे हैं भवसागर में।
भेदज्ञान के ही अभाव से भटक रहे हैं॥१३१॥

भेदज्ञान से शुद्धतत्त्व की उपलब्धि हो।
शुद्धतत्त्व की उपलब्धि से रागनाश हो॥
रागनाश से कर्मनाश अर कर्मनाश से।
ज्ञान ज्ञान में थिर होकर शाश्वत हो जावे॥१३२॥

आजतक जो कोई भी सिद्ध हुए हैं; वे सब भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जो कोई बँधे हैं; वे सब उस भेदविज्ञान के अभाव से ही बँधे हैं।

भेदविज्ञान प्रगट करने के अभ्यास से शुद्धतत्त्व की उपलब्धि हुई; शुद्धतत्त्व की उपलब्धि से रागसमूह का प्रलय हुआ, रागसमूह के विलय करने से कर्मों का संवर हुआ और कर्मों का संवर होने से ज्ञान में ही निश्चल हुआ ज्ञान उदय को प्राप्त हुआ। निर्मल प्रकाश और शाश्वत उद्योत वाला वह एक अम्लान ज्ञान परमसन्तोष को धारण करता है।

–समयसार कलश पद्यानुवाद

६

निर्जराधिकार

(१९३)

उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं।।

चेतन अचेतन द्रव्य का उपभोग सम्यग्दृष्टि जन।
जो इन्द्रियों से करें वह सब निर्जरा का हेतु है।।

सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियों के द्वारा चेतन-अचेतन द्रव्यों का जो भी उपभोग करता है, वह सभी निर्जरा का निमित्त है।

(१९४)

दव्वे उवभुंजंते णियमा जायदि सुहं व दुक्खं वा।
तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेददि अध णिज्जरं जादि।।

सुख-दुख नियम से हों सदा परद्रव्य के उपभोग से।
अर भोगने के बाद सुख-दुख निर्जरा को प्राप्त हों।।

परद्रव्य का उपभोग होने पर सुख अथवा दुःख नियम से उत्पन्न होता है। उदय को प्राप्त उन सुख-दुःखों का अनुभव होने के बाद वे सुख-दुःख निर्जरा को प्राप्त हो जाते हैं।

(१९५-१९६)

जह विसमुवभुंजंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि।
पोग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव बज्झदे णाणी।।
जह मज्जं पिबमाणो अरदीभावेण मज्जदि ण पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण बज्झदि तहेव।।

ज्यों वैद्यजन मरते नहीं हैं जहर के उपभोग से।
त्यों ज्ञानिजन बँधते नहीं हैं कर्म के उपभोग से।।

ज्यों अरुचिपूर्वक मद्य पीकर मत्त जन होते नहीं।
त्यों अरुचि से उपभोग करते ज्ञानिजन बँधते नहीं।।

जिसप्रकार वैद्यपुरुष विष को भोगता अर्थात् खाता हुआ भी मरण को प्राप्त नहीं होता; उसीप्रकार ज्ञानी पुरुष पुद्गलकर्म के उदय को भोगता हुआ भी बँधता नहीं है।

जिसप्रकार कोई पुरुष मदिरा को अरतिभाव (अप्रीति) से पीता हुआ मतवाला नहीं होता; उसीप्रकार ज्ञानी भी द्रव्य के उपभोग के प्रति अरत वर्तता हुआ बंध को प्राप्त नहीं होता।

(१९७)

सेवंतो वि ण सेवदि असेवमाणो वि सेवगो कोई।
पगरणचेट्ठा कस्स वि ण य पायरणो त्ति सो होदि।।

ज्यों प्रकरणगत चेष्टा करें पर प्राकरणिक नहीं बनें।
त्यों ज्ञानिजन सेवन करें पर विषय सेवक नहीं बनें।।

जिसप्रकार किसी व्यक्ति के किसी प्रकरण की चेष्टा होने पर भी वह प्राकरणिक नहीं होता और चेष्टा से रहित व्यक्ति प्राकरणिक होता है; उसीप्रकार कोई व्यक्ति विषयों का सेवन करता हुआ भी सेवक नहीं होता है और कोई व्यक्ति सेवन नहीं करता हुआ भी सेवक होता है।

(१९८ से २००)

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिदो जिणवरेहिं।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमेक्को।।
पोग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो।
ण दु एस मज्ज भावो जाणगभावो हु अहमेक्को।।
एवं सम्मादिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं।
उदयं कम्मविवागं च मुयदि तच्चं वियाणंतो।।

उदय कर्मों के विविध-विध सूत्र में जिनवर कहें।
किन्तु वे मेरे नहीं मैं एक ज्ञायकभाव हूँ।।

पुद्गल करम है राग उसके उदय ये परिणाम हैं।
किन्तु ये मेरे नहीं मैं एक ज्ञायकभाव हूँ॥
इसतरह ज्ञानी जानते ज्ञायकस्वभावी आतमा।
कर्मोदयों को छोड़ते निजतत्त्व को पहिचान कर॥

जिनेन्द्र भगवान ने कर्मों के उदय का विपाक (फल) अनेकप्रकार का कहा है; किन्तु वे मेरे स्वभाव नहीं हैं; मैं तो एक ज्ञायकभाव ही हूँ।

राग पुद्गलकर्म है, उसका विपाकरूप उदय मेरा नहीं है; क्योंकि मैं तो एक ज्ञायकभाव ही हूँ।

इसप्रकार सम्यग्दृष्टि अपने आत्मा को ज्ञायकस्वभाव जानता है और तत्त्व (वस्तु के वास्तविक स्वरूप) को जानता हुआ कर्म के विपाकरूप उदय को छोड़ता है।

(२०१-२०२)

परमाणुमित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि॥
अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो॥

अणुमात्र भी रागादि का सद्भाव है जिस जीव के।
वह भले ही हो सर्व आगमधर न जाने जीव को॥
जो न जाने जीव को वे अजीव भी जानें नहीं।
कैसे कहें सद्दृष्टि जीवाजीव जब जानें नहीं?॥

जिन जीवों के परमाणुमात्र (लेशमात्र) भी रागादि वर्तते हैं, वे जीव समस्त आगम के पाठी होकर भी आत्मा को नहीं जानते।

आत्मा को नहीं जाननेवाले वे लोग अनात्मा को भी नहीं जानते। इसप्रकार जो जीव और अजीव (आत्मा और अनात्मा) दोनों को ही नहीं जानते; वे सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं ?

(२०३)

आदम्हि दव्वभावे अपदे मोत्तूण गिण्ह तह णियदं।
थिरमेगमिमं भावं उवलब्भंतं सहावेण।।

स्वानुभूतिगम्य है जो नियत थिर निजभाव ही।
अपद पद सब छोड़ ग्रह वह एक नित्यस्वभाव ही।।

हे भव्यजीवो ! आत्मा में अपदभूत द्रव्य-भावों को छोड़कर निश्चित, स्थिर एवं एकरूप तथा स्वभावरूप से उपलब्ध प्रत्यक्ष अनुभवगोचर इस ज्ञानभाव को जैसा का तैसा ग्रहण करो; क्योंकि यही तुम्हारा पद है।

(२०४)

आभिणिसुदोधिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं।
सो ऐसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि।।

मतिश्रुतावधिमन:पर्यय और केवलज्ञान भी।
सब एक पद परमार्थ है पा इसे जन शिवपद लहें।।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान – यह एक ही पद है; क्योंकि ज्ञान के समस्त भेद ज्ञान ही हैं। इसप्रकार यह सामान्य ज्ञानपद ही परमार्थ है, जिसे प्राप्त करके आत्मा निर्वाण को प्राप्त होता है।

(२०५)

णाणगुणेण विहीणा एदं तु पदं बहु वि ण लहंते।
तं गिण्ह णियदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं।।

इस ज्ञानगुण के बिना जन प्राप्ति न शिवपद की करें।
यदि चाहते हो मुक्त होना ज्ञान का आश्रय करो।।

ज्ञानगुण (आत्मानुभव) से रहित बहुत से लोग अनेकप्रकार के क्रिया-काण्ड करते हुए भी इस ज्ञानस्वरूप पद (आत्मा) को प्राप्त नहीं कर पाते; इसलिए हे भव्यजीवो ! यदि तुम कर्म से पूर्ण मुक्ति चाहते हो तो इस नियत ज्ञान को ग्रहण करो।

(२०६)

एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं।।

इस ज्ञान में ही रत रहो सन्तुष्ट नित इसमें रहो।
बस तृप्त भी इसमें रहो तो परमसुख को प्राप्त हो।।

हे भव्यप्राणी ! तू इस ज्ञानपद को प्राप्त करके इसमें ही लीन हो जा, इसमें ही निरन्तर सन्तुष्ट रह और इसमें ही पूर्णतः तृप्त हो जा; इससे ही तुझे उत्तम सुख (अतीन्द्रिय-सुख) की प्राप्ति होगी।

(२०७)

को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इमं हवदि दव्वं।
अप्पाणमप्पणो परिगहं तु णियदं वियाणंतो।।

आतमा ही आतमा का परिग्रह – यह जानकर।
'पर द्रव्य मेरा है' – बताओ कौन बुध ऐसा कहे?।।

अपने आत्मा को ही नियम से अपना परिग्रह जानता हुआ कौन-सा ज्ञानी यह कहेगा कि यह परद्रव्य मेरा द्रव्य है ?

(२०८-२०९)

मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज।
णादेव अहं जम्हा तम्हा ण परिग्गहो मज्झ।।
छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं।
जम्हा तम्हा गच्छदु तह वि हु ण परिग्गहो मज्झ।।

यदि परिग्रह मेरा बने तो मैं अजीव बनूँ अरे।
पर मैं तो ज्ञायकभाव हूँ इसलिए पर मेरे नहीं।।
छिद जाय या ले जाय कोइ अथवा प्रलय को प्राप्त हो।
जावे चला चाहे जहाँ पर परिग्रह मेरा नहीं।।

यदि परद्रव्यरूप परिग्रह मेरा हो तो मैं अजीवत्व को प्राप्त हो जाऊँ। चूँकि मैं तो ज्ञाता ही हूँ; इसलिए परद्रव्यरूप परिग्रह मेरा नहीं है।

यह परद्रव्यरूप परिग्रह छिद जाये, भिद जाये, कोई इसे ले जाये अथवा नष्ट हो जाये, प्रलय को प्राप्त हो जाये; अधिक क्या कहें – चाहे जहाँ चला जाये; – इससे मुझे क्या ? क्योंकि यह परिग्रह वास्तव में मेरा है ही नहीं।

(२१० से २१४)

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदे धम्मं।
अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि।।
अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदि अधम्मं।
अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि।।
अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदे असणं।
अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि।।
अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदे पाणं।
अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि।।
एमादिए दु विविहे सव्वे भावे य णेच्छदे णाणी।
जाणगभावो णियदो णीरालंबो दु सव्वत्थ।।

है अनिच्छुक अपरिग्रही ज्ञानी न चाहे धर्म को।
है परिग्रह ना धर्म का वह धर्म का ज्ञायक रहे।।
है अनिच्छुक अपरिग्रही ज्ञानी न चाहे अधर्म को।
है परिग्रह ना अधर्म का वह अधर्म का ज्ञायक रहे।।
है अनिच्छुक अपरिग्रही ज्ञानी न चाहे असन को।
है परिग्रह ना असन का वह असन का ज्ञायक रहे।।
है अनिच्छुक अपरिग्रही ज्ञानी न चाहे पेय को।
है परिग्रह ना पेय का वह पेय का ज्ञायक रहे।।
इत्यादि विध-विध भाव जो ज्ञानी न चाहे सभी को।
सर्वत्र ही वह निरालम्बी नियत ज्ञायकभाव है।।

अनिच्छुक को अपरिग्रही कहा है और ज्ञानी पुण्यरूप धर्म को नहीं

चाहता; इसलिए वह पुण्यरूप धर्म का परिग्रही नहीं है; किन्तु उसका ज्ञायक ही है।

अनिच्छुक को अपरिग्रही कहा है और ज्ञानी पापरूप अधर्म को नहीं चाहता; इसलिए वह पापरूप अधर्म का परिग्रही नहीं है; किन्तु उसका ज्ञायक ही है।

अनिच्छुक को अपरिग्रही कहा है और ज्ञानी भोजन को नहीं चाहता है; इसलिए वह भोजन का परिग्रही नहीं है; किन्तु उसका ज्ञायक ही है।

अनिच्छुक को अपरिग्रही कहा है और ज्ञानी पेय को नहीं चाहता; इसलिए वह पेय का परिग्रही नहीं है; किन्तु उसका ज्ञायक ही है।

इसीप्रकार और भी अनेकप्रकार के सभी भावों को ज्ञानी नहीं चाहता; क्योंकि वह तो सभी भावों से निरालम्ब एवं निश्चित ज्ञायकभाव ही है।

(२१५)

उप्पण्णोदय भोगो वियोगबुद्धीए तस्स सो णिच्चं।
कंखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी।।

उदयगत जो भोग हैं उनमें वियोगीबुद्धि है।
अर अनागत भोग की सद्ज्ञानि के कांक्षा नहीं।।

जो वर्तमान में उत्पन्न उदय का भोग है, वह ज्ञानी के सदा ही वियोग-बुद्धिपूर्वक होता है और ज्ञानी आगामी उदय की वांछा नहीं करता।

(२१६)

जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उभयं।
तं जाणगो दु णाणी उभयं पि ण कंखदि कयावि।।

वेद्य-वेदक भाव दोनों नष्ट होते प्रतिसमय।
ज्ञानी रहे ज्ञायक सदा ना उभय की कांक्षा करे।।

वेदन करनेवाला भाव और वेदन में आनेवाला भाव – दोनों ही समय-समय पर नष्ट हो जाते हैं। इसप्रकार जाननेवाला ज्ञानी उन दोनों भावों को कभी भी नहीं चाहता।

(२१७)

बंधुवभोगणिमित्ते अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स।
संसारदेहविसएसु णेव उप्पज्जदे रागो।।

बंध-भोग-निमित्त में अर देह में संसार में।
सद्ज्ञानियों को राग होता नहीं अध्यवसान में।।

बंध और उपभोग के निमित्तभूत संसारसंबंधी और देहसंबंधी अध्यव-सान के उदयों में ज्ञानी को राग उत्पन्न नहीं होता।

(२१८-२१९)

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
णो लिप्पदि रजएण दु कद्दममज्झे जहा कणयं।।
अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहं।।

पंकगत ज्यों कनक निर्मल कर्मगत त्यों ज्ञानिजन।
राग विरहित कर्मरज से लिप्त होते हैं नहीं।।
पंकगत ज्यों लोह त्यों ही कर्मगत अज्ञानिजन।
रक्त हों परद्रव्य में अर कर्मरज से लिप्त हों।।

जिसप्रकार कीचड़ में पड़ा हुआ भी सोना कीचड़ से लिप्त नहीं होता; उसीप्रकार सर्व द्रव्यों के प्रति राग छोड़नेवाला ज्ञानी कर्मों के मध्य में रहा हुआ भी कर्मरज से लिप्त नहीं होता।

जिसप्रकार कीचड़ में पड़ा हुआ लोहा कीचड़ से लिप्त हो जाता है; उसीप्रकार सर्वद्रव्यों के प्रति रागी और कर्मरज के मध्य स्थित अज्ञानी कर्मरज से लिप्त हो जाता है।

(२२० से २२३)

भुंजंतस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे।
संखस्स सेदभावो ण वि सक्कदि किण्हगो कादुं।।

तह णाणिस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे।
भुंजंतस्स वि णाणं ण सक्कमण्णाणदं णेदुं।।
जइया स एव संखो सेदसहावं तयं पजहिदूण।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे।।
तह णाणी वि हु जइया णाणसहावं तयं पजहिदूण।
अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे।।

ज्यों अचित्त और सचित्त एवं मिश्र वस्तु भोगते।
भी शंख के शुक्लत्व को ना कृष्ण कोई कर सके।।
त्यों अचित्त और सचित्त एवं मिश्र वस्तु भोगते।
भी ज्ञानि के ना ज्ञान को अज्ञान कोई कर सके।।
जब स्वयं शुक्लत्व तज वह कृष्ण होकर परिणमे।
तब स्वयं ही हो कृष्ण एवं शुक्ल भाव परित्यजे।।
इस ही तरह जब ज्ञानिजन निजभाव को परित्याग कर।
अज्ञानमय हों परिणमित तब स्वयं अज्ञानी बनें।।

जिसप्रकार अनेक प्रकार के सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों को भोगते हुए, खाते हुए भी शंख का श्वेतभाव कृष्णभाव को प्राप्त नहीं होता, शंख की सफेदी को कोई कालेपन में नहीं बदल सकता; उसीप्रकार ज्ञानी भी अनेक प्रकार के सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्यों को भोगे तो भी उसके ज्ञान को अज्ञानरूप नहीं किया जा सकता।

जिसप्रकार जब वही शंख स्वयं उस श्वेत स्वभाव को छोड़कर कृष्णभाव (कालेपन) को प्राप्त होता है; तब काला हो जाता है; उसीप्रकार ज्ञानी भी जब स्वयं ज्ञानस्वभाव को छोड़कर अज्ञानरूप परिणमित होता है, तब अज्ञानता को प्राप्त हो जाता है।

(२२४ से २२७)

पुरिसो जह को वि इहं वित्तिणिमित्तं तु सेवदे रायं।
तो सो वि देदि राया विविहे भोगे सुहुप्पाए।।

एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवदे सुहणिमित्तं।
तो सो वि देदि कम्मो विविहे भोगे सुहुप्पाए।।
जह पुण सो च्चिय पुरिसो वित्तिणिमित्तं ण सेवदे रायं।
तो सो ण देदि राया विविहे भोगे सुहुप्पाए।।
एमेव सम्मदिट्ठी विसयत्थं सेवदे ण कम्मरयं।
तो सो ण देदि कम्मो विविहे भोगे सुहुप्पाए।।

आजीविका के हेतु नर ज्यों नृपति की सेवा करे।
तो नरपती भी सबतरह उसके लिए सुविधा करे।।
इस ही तरह जब जीव सुख के हेतु सेवे कर्मरज।
तो कर्मरज भी सबतरह उसके लिए सुविधा करे।।
आजीविका के हेतु जब नर नृपति सेवा ना करे।
तब नृपति भी उसके लिए उसतरह सुविधा ना करे।।
त्यों कर्मरज सेवे नहीं जब जीव सुख के हेतु से।
तो कर्मरज उसके लिए उसतरह सुविधा ना करे।।

जिसप्रकार इस जगत में कोई भी पुरुष आजीविका के लिए राजा की सेवा करता है तो वह राजा भी उसे अनेक प्रकार की सुखोत्पादक भोगसामग्री देता है; उसीप्रकार जीवरूपी पुरुष सुख के लिए कर्मरज का सेवन करता है तो वह कर्म भी उसे अनेक प्रकार की सुखोत्पादक भोगसामग्री देता है।

जिसप्रकार वही पुरुष आजीविका के लिए राजा की सेवा नहीं करता तो वह राजा भी उसे अनेक प्रकार की सुखोत्पादक भोगसामग्री नहीं देता है; उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि विषयभोगों के लिए कर्मरज का सेवन नहीं करता तो वह कर्म भी उसे अनेक प्रकार की सुखोत्पादक भोग-सामग्री नहीं देता।

(२२८)

सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका।।

निःशंक हों सद्दृष्टि बस इसलिए ही निर्भय रहें।
वे सप्त भय से मुक्त हैं इसलिए ही निःशंक हैं।।

सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक होते हैं, इसीकारण निर्भय भी होते हैं। चूँकि वे सप्त भयों से रहित होते हैं; इसलिए निःशंक होते हैं।

(२२९)

जो चत्तारि वि पाए छिंददि ते कम्मबंधमोहकरे।
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ।।

जो कर्मबंधन मोह कर्ता चार पाये छेदते।
वे आतमा निःशंक सम्यग्दृष्टि हैं – यह जानना।।

जो आत्मा कर्मबंध संबंधी मोह करनेवाले मिथ्यात्वादि भावरूप चारों पादों को छेदता है; उसको निःशंक अंग का धारी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

(२३०)

जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ।।

सब धर्म एवं कर्मफल की ना करें आकांक्षा।
वे आतमा निःकांक्ष सम्यग्दृष्टि हैं – यह जानना।।

जो चेतयिता आत्मा कर्मों के फलों के प्रति और सर्व धर्मों के प्रति कांक्षा नहीं करता; उसको निःकांक्षित अंग का धारी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

(२३१-२३२)

जो ण करेदि दुगुंछं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं।
सो खलु णिव्विदिगिच्छो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ।।
जो हवदि असम्मूढो चेदा सद्दिट्ठि सव्वभावेसु।
सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ।।

जो नहीं करते जुगुप्सा सब वस्तुधर्मों के प्रति।
वे आतमा ही निर्जुगुप्सक समकिती हैं जानना।।

सर्व भावों के प्रति सद्दृष्टि हैं असंमूढ़ हैं।
अमूढ़दृष्टि समकिती वे आतमा ही जानना॥

जो चेतयिता आत्मा सभी धर्मों के प्रति जुगुप्सा (ग्लानि) नहीं करता; उसको निर्विचिकित्सा अंग का धारी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

जो चेतयिता आत्मा समस्त भावों में अमूढ़ है, यथार्थ दृष्टिवाला है; उसको निश्चय से अमूढ़दृष्टि अंग का धारी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

(२३३-२३४)

जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं।
सो उवगूहणकारी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥
उम्मग्गं गच्छतं सगं पि मग्गे ठवेदि जो चेदा।
सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥

जो सिद्धभक्ति युक्त हैं सब धर्म का गोपन करें।
वे आतमा गोपनकरी सद्दृष्टि हैं यह जानना॥
उन्मार्गगत निजभाव को लावें स्वयं सन्मार्ग में।
वे आतमा थितिकरण सम्यग्दृष्टि हैं यह जानना॥

जो चेतयिता सिद्धों की भक्ति से युक्त हैं और परवस्तुओं के सभी धर्मों को गोपनेवाला है; उसको उपगूहन अंग का धारी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

जो चेतयिता उन्मार्ग में जाते हुए अपने आत्मा को सन्मार्ग में स्थापित करता है, वह स्थितिकरण अंग का धारी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

(२३५-२३६)

जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हं साहूण मोक्खमग्गम्हि।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥
विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥

मुक्तिमगगत साधुत्रय प्रति रखें वत्सल भाव जो।
वे आतमा वत्सली सम्यग्दृष्टि हैं यह जानना॥
सद्ज्ञानरथ आरूढ़ हो जो भ्रमे मनरथ मार्ग में।
वे प्रभावक जिनमार्ग के सद्दृष्टि उनको जानना॥

जो चेतयिता मोक्षमार्ग में स्थित निश्चय से सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र – इन साधनों के प्रति अथवा व्यवहार से आचार्य, उपाध्याय और साधु – इन साधुओं के प्रति वात्सल्य करता है; वह वात्सल्य अंग का धारी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

जो चेतयिता विद्यारूपी रथ पर आरूढ़ हुआ, मनरूपी रथ के पथ में भ्रमण करता है; वह जिनेन्द्र भगवान के ज्ञान की प्रभावना करनेवाला अर्थात् प्रभावना अंग का धारी सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए। ●

(द्रुतविलंबित)

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं सहजबोधकलासुलभं किल।
तत इदं निजबोधकलाबलात् कलयितुं यततां सततं जगत्॥१४३॥

(दोहा)

क्रियाकाण्ड से ना मिले, यह आतम अभिराम।
ज्ञानकला से सहज ही, सुलभ आतमाराम॥
अत: जगत के प्राणियो ! छोड़ जगत की आश।
ज्ञानकला का ही अरे ! करो नित्य अभ्यास॥१४३॥

इस ज्ञानस्वरूप पद को कर्मों (क्रियाकाण्डों) से प्राप्त करना दुरासद है, संभव नहीं है; यह तो सहज ज्ञानकला से ही सुलभ है। इसलिए हे जगत के प्राणियो ! तुम इस ज्ञानपद को निजात्मज्ञान की कला के बल से प्राप्त करने का निरन्तर प्रयास करो, अभ्यास करो।

– समयसार कलश पद्यानुवाद

७

बंधाधिकार

(२३७ से २४१)

जह णाम को वि पुरिसो णेहब्भत्तो दु रेणुबहुलम्मि।
ठाणम्मि ठाइदूण य करेदि सत्थेहिं वायामं।।
छिंदति भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ।
सच्चित्താचित्ताणं करेदि दव्वाणमुवघादं।।
उवघादं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतेज्ज हु किं पच्चयगो दु रयबंधो।।
जो सो दु णेहभावो तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं।।
एवं मिच्छादिट्ठी वट्टंतो बहुविहासु चिट्ठासु।
रागादी उवओगे कुव्वंतो लिप्पदि रएण।।

ज्यों तेल मर्दन कर पुरुष रेणु बहुल स्थान में।
व्यायाम करता शस्त्र से बहुविध बहुत उत्साह से।।
तरु ताड़ कदली बाँस आदिक वनस्पति छेदन करे।
सचित्त और अचित्त द्रव्यों का बहुत भेदन करे।।
बहुविध बहुत उपकरण से उपघात करते पुरुष को।
परमार्थ से चिन्तन करो रजबंध किस कारण हुआ।।
चिकनाई ही रजबंध का कारण कहा जिनराज ने।
पर कायचेष्टादिक नहीं यह जान लो परमार्थ से।।
बहुभाँति चेष्टारत तथा रागादि को करते हुए।
सब कर्मरज से लिप्त होते हैं जगत में अज्ञजन।।

जिसप्रकार कोई पुरुष अपने शरीर में तेल आदि चिकने पदार्थ लगाकर

बहुत धूलवाले स्थान में रहकर शस्त्रों के द्वारा व्यायाम करता है तथा ताड़, तमाल, केला, बाँस, अशोक आदि वृक्षों को छेदता है, भेदता है; सचित्त व अचित्त द्रव्यों का उपघात (नाश) करता है।

इसप्रकार नानाप्रकार के साधनों द्वारा उपघात करते हुए उस पुरुष के धूलि का बंध किसकारण से होता है ? – निश्चय से इस बात का विचार करो। उस पुरुष के जो तेलादि की चिकनाहट है; उससे ही उसे धूलि का बंध होता है, शेष शारीरिक चेष्टाओं से नहीं; ऐसा निश्चय से जानना चाहिए।

इसप्रकार बहुत प्रकार की चेष्टाओं में वर्तता हुआ मिथ्यादृष्टि जीव अपने उपयोग में रागादिभावों को करता हुआ कर्मरूपी रज से लिप्त होता है, बँधता है।

(२४२ से २४६)

जह पुण सो चेव णरो णेहे सव्वम्हि अवणिदे संते।
रेणुबहुलम्मि ठाणे करेदि सत्थेहिं वायामं।।
छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेदि दव्वाणमुवघादं।।
उवघादं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतेज्ज हु किं पच्चयगो ण रयबंधो।।
जो सो दु णेहभावो तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं।।
एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु।
अकरंतो उवओगे रागादी ण लिप्पदि रएण।।

ज्यों तेल मर्दन रहित जन रेणू बहुल स्थान में।
व्यायाम करता शस्त्र से बहुविध बहुत उत्साह से।।
तरु ताल कदली बाँस आदिक वनस्पति छेदन करे।
सचित्त और अचित्त द्रव्यों का बहुत भेदन करे।।

बहुविध बहुत उपकरण से उपघात करते पुरुष को।
परमार्थ से चिन्तन करो रजबंध क्यों कर ना हुआ ?॥
चिकनाई ही रजबंध का कारण कहा जिनराज ने।
पर कायचेष्टादिक नहीं यह जान लो परमार्थ से॥
बहुभाँति चेष्टारत तथा रागादि ना करते हुए।
बस कर्मरज से लिप्त होते नहीं जग में विज्ञजन॥

जिसप्रकार वही पुरुष सभीप्रकार के तेल आदि स्निग्ध पदार्थों के दूर किये जाने पर बहुत धूलिवाले स्थान में शस्त्रों के द्वारा व्यायाम करता है और ताल, तमाल, केला, बाँस और अशोक आदि वृक्षों को छेदता है, भेदता है; सचित्त-अचित्त द्रव्यों का उपघात करता है।

इसप्रकार नानाप्रकार के करणों द्वारा उपघात करते हुए उस पुरुष को धूलि का बंध वस्तुतः किसकारण से नहीं होता – यह निश्चय से विचार करो।

निश्चय से यह बात जानना चाहिए कि उसके जो बंध होता था, वह तेल आदि चिकनाई के कारण होता था, अन्य कायचेष्टादि कारणों से नहीं। इसप्रकार बहुतप्रकार के योगों में वर्तता हुआ सम्यग्दृष्टि उपयोग में रागादि को न करता हुआ कर्मरज से लिप्त नहीं होता।

(२४७ से २५२)

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो॥
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कदं तेसिं॥
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरंति तुहं कह ते मरणं कदं तेहिं॥
जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो॥

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीविदं कदं तेसिं।।
आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आउं च ण दिंति तुहं कहं णु ते जीविदं कदं तेहिं।।

मैं मारता हूँ अन्य को या मुझे मारें अन्यजन।
यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन।।
निज आयुक्षय से मरण हो यह बात जिनवर ने कही।
तुम मार कैसे सकोगे जब आयु हर सकते नहीं।।
निज आयुक्षय से मरण हो यह बात जिनवर ने कही।
वे मरण कैसे करें तब जब आयु हर सकते नहीं।।
मैं हूँ बचाता अन्य को मुझको बचावे अन्यजन।
यह मान्यता अज्ञान है जिनवर कहें हे भव्यजन।।
सब आयु से जीवित रहें – यह बात जिनवर ने कही।
जीवित रखोगे किसतरह जब आयु दे सकते नहीं।।
सब आयु से जीवित रहें यह बात जिनवर ने कही।
कैसे बचावें वे तुझे जब आयु दे सकते नहीं।।

जो यह मानता है कि मैं पर जीवों को मारता हूँ और पर जीव मुझे मारते हैं; वह मूढ़ है, अज्ञानी है और जो इससे विपरीत है अर्थात् ऐसा नहीं मानता है; वह ज्ञानी है।

जीवों का मरण आयुकर्म के क्षय से होता है – ऐसा जिनवरदेव ने कहा है। तू परजीवों के आयुकर्म को तो हरता नहीं है; फिर तूने उनका मरण कैसे किया ?

जीवों का मरण आयुकर्म के क्षय से होता है – ऐसा जिनवरदेव ने कहा है। पर जीव तेरे आयुकर्म को तो हरते नहीं हैं; फिर उन्होंने तेरा मरण कैसे किया ?

जो जीव यह मानता है कि मैं परजीवों को जिलाता हूँ और परजीव

मुझे जिलाते हैं; वह मूढ़ है; अज्ञानी है और जो इससे विपरीत है अर्थात् ऐसा नहीं मानता; वह ज्ञानी है।

जीव आयुकर्म के उदय से जीता है – ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं। तू परजीवों को आयुकर्म तो देता नहीं है; फिर तूने उनका जीवन कैसे किया?

जीव आयुकर्म के उदय से जीता है – ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं। परजीव तुझे आयुकर्म तो देते नहीं है; फिर उन्होंने तेरा जीवन कैसे किया?

(२५३ से २५६)

जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्ते त्ति।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो।।
कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कह कया ते।।
कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण दिंति तुहं कदोसि कहं दुक्खिदो तेहिं।।
कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण दिंति तुहं कह तं सुहिदो कदो तेहिं।।

मैं सुखी करता दु:खी करता हूँ जगत में अन्य को।
यह मान्यता अज्ञान है क्यों ज्ञानियों को मान्य हो?।।
हैं सुखी होते दु:खी होते कर्म से सब जीव जब।
तू कर्म दे सकता न जब सुख-दु:ख दे किस भाँति तब।।
हैं सुखी होते दु:खी होते कर्म से सब जीव जब।
दुष्कर्म दे सकते न जब दु:ख-दर्द दें किस भाँति तब।।
हैं सुखी होते दु:खी होते कर्म से सब जीव जब।
सत्कर्म दे सकते न जब सुख-शांति दें किस भाँति तब।।

जो यह मानता है कि मैं स्वयं परजीवों को सुखी-दु:खी करता हूँ; वह मूढ़ है, अज्ञानी है और जो इससे विपरीत है; वह ज्ञानी है।

यदि सभी जीव कर्म के उदय से सुखी–दुःखी होते हैं और तू उन्हें कर्म तो देता नहीं है; तो तूने उन्हें सुखी–दुःखी कैसे किया ?

यदि सभी जीव कर्म के उदय से सुखी–दुःखी होते हैं और वे तुझे कर्म तो देते नहीं हैं; तो फिर उन्होंने तुझे दुःखी कैसे किया ?

यदि सभी जीव कर्म के उदय से सुखी–दुःखी होते हैं और वे तुझे कर्म तो देते नहीं हैं; तो फिर उन्होंने तुझे सुखी कैसे किया ?

(२५७–२५८)

जो मरदि जो य दुहिदो जायदि कम्मोदएण सो सव्वो।
तम्हा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा।।
जो ण मरदि ण य दुहिदो सो वि य कम्मोदएण चेव खलु।
तम्हा ण मारिदो णो दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा।।

जो मरे या जो दुःखी हों वे सब करम के उदय से।
'मैं दुःखी करता-मारता' – यह बात क्यों मिथ्या न हो?।।
जो ना मरे या दुःखी ना हो सब करम के उदय से।
'ना दुःखी करता मारता' – यह बात क्यों मिथ्या न हो।।

जो मरता है और जो दुःखी होता है, वह सब कर्मोदय से होता है; इसलिए 'मैंने मारा, मैंने दुःखी किया' – ऐसा तेरा अभिप्राय क्या वास्तव में मिथ्या नहीं है ?

जो मरता नहीं है और दुःखी नहीं होता है, वह सब भी कर्मोदयानुसार ही होता है; इसलिए 'मैंने नहीं मारा, मैंने दुःखी नहीं किया' – ऐसा तेरा अभिप्राय क्या वास्तव में मिथ्या नहीं है ?

(२५९ से २६१)

एसा दु जा मदी दे दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्ते त्ति।
एसा दे मूढमदी सुहासुहं बंधदे कम्मं।।
दुक्खिदसुहिदे सत्ते करेमि जं एवमज्झवसिदं ते।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि।।

मारिमि जीवावेमि य सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि।।

मैं सुखी करता दु:खी करता हूँ जगत में अन्य को।
यह मान्यता ही मूढ़मति शुभ-अशुभ का बंधन करे।।
'मैं सुखी करता दु:खी करता' यही अध्यवसान सब।
पुण्य एवं पाप के बंधक कहे हैं सूत्र में।।
'मैं मारता मैं बचाता हूँ' यही अध्यवसान सब।
पाप एवं पुण्य के बंधक कहे हैं सूत्र में।।

मैं जीवों को सुखी-दु:खी करता हूँ – यह जो तेरी बुद्धि है, यही मूढ़बुद्धि शुभाशुभकर्म को बाँधती है।

मैं जीवों को सुखी-दु:खी करता हूँ – ऐसा जो तेरा अध्यवसान है, वही पुण्य-पाप का बंधक है।

मैं जीवों को मारता हूँ और जिलाता हूँ – ऐसा जो तेरा अध्यवसान है, वही पाप-पुण्य का बंधक है।

(२६२)

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स।।

मारो न मारो जीव को हो बंध अध्यवसान से।
यह बंध का संक्षेप है तुम जान लो परमार्थ से।।

जीवों को मारो अथवा न मारो; कर्मबंध तो अध्यवसान से ही होता है – यह निश्चय से जीवों के बंध का संक्षेप है।

(२६३-२६४)

एवमलिए अदत्ते अबंभचेरे परिग्गहे चेव।
कीरदि अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झदे पावं।।
तह वि य सच्चे दत्ते बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव।
कीरदि अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झदे पुण्णं।।

इस ही तरह चोरी असत्य कुशील एवं ग्रंथ में।
जो हुए अध्यवसान हों वे पाप का बंधन करें।।
इस ही तरह अचौर्य सत्य सुशील और अग्रंथ में।
जो हुए अध्यवसान हों वे पुण्य का बंधन करें।।

जिसप्रकार हिंसा-अहिंसा के संदर्भ में कहा गया है; उसीप्रकार असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह के संदर्भ में जो अध्यवसान किये जाते हैं; उनसे पाप का बंध होता है और सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के संदर्भ में जो अध्यवसान किये जाते हैं; उनसे पुण्य का बंध होता है।

(२६५)

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं।
ण य वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि।।

ये भाव अध्यवसान होते वस्तु के अवलम्ब से।
पर वस्तु से ना बंध हो हो बंध अध्यवसान से।।

जीवों के जो अध्यवसान होते हैं; वे वस्तु के अवलम्बनपूर्वक ही होते हैं; तथापि वस्तु से बंध नहीं होता, अध्यवसान से ही बंध होता है।

(२६६-२६७)

दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमोचेमि।
जा एसा मूढमदी णिरत्थया सा हु दे मिच्छा।।
अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि।
मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ता किं करेसि तुमं।।

मैं सुखी करता दुःखी करता बाँधता या छोड़ता।
यह मान्यता हे मूढ़मति मिथ्या निरर्थक जानना।।
जिय बँधे अध्यवसान से शिवपथ-गमन से छूटते।
गहराई से सोचो जरा पर में तुम्हारा क्या चले ?।।

मैं जीवों को दुःखी-सुखी करता हूँ, बाँधता हूँ, छुड़ाता हूँ - ऐसी जो तेरी मूढ़मति है; वह निरर्थक होने से वास्तव में मिथ्या है।

यदि वास्तव में अध्यवसान के निमित्त से जीव बंधन को प्राप्त होते हैं और मोक्षमार्ग में स्थित जीव मुक्ति को प्राप्त करते हैं तो तू क्या करता है ? तात्पर्य यह है कि तेरा बाँधने-छोड़ने का अभिप्राय गलत ही सिद्ध हुआ न, व्यर्थ ही सिद्ध हुआ न ?

(२६८-२६९)

सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरइए।
देवमणुए य सव्वे पुण्णं पावं च णेयविहं।।
धम्माधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोगलोगं च।
सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण अप्पाणं।।

यह जीव अध्यवसान से तिर्यंच नारक देव नर।
अर पुण्य एवं पाप सब पर्यायमय निज को करे।।
वह जीव और अजीव एवं धर्म और अधर्ममय।
अर लोक और अलोक इन सबमय स्वयं निज को करे।।

यह जीव अध्यवसान से तिर्यंच, नारक, देव, मनुष्य - इन सब पर्यायों और अनेकप्रकार के पुण्य-पाप भावों रूप स्वयं को करता है।

इसीप्रकार यह जीव अध्यवसान से धर्म-अधर्म, जीव-अजीव और लोक-अलोक - इन सबरूप भी स्वयं को करता है।

(२७०)

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति।।

ये और इनसे अन्य अध्यवसान जिनके हैं नहीं।
वे मुनीजन शुभ-अशुभ कर्मों से न कबहूँ लिप्त हों।।

ये अध्यवसानभाव व इसप्रकार के अन्य अध्यवसानभाव जिनके नहीं हैं; वे मुनिराज अशुभ या शुभ कर्मों से लिप्त नहीं होते।

(२७१)

बुद्धी ववसाओ वि य अज्झवसाणं मदी य विण्णाणं।
एक्कट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो।।

व्यवसाय बुद्धी मती अध्यवसान अर विज्ञान भी।
एकार्थवाचक हैं सभी ये भाव चित परिणाम भी।।

बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम – ये सब एकार्थवाची ही हैं, पर्यायवाची ही हैं।

(२७२)

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणएण।
णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं।।

इस तरह ही परमार्थ से कर नास्ति इस व्यवहार की।
निश्चयनयाश्रित श्रमणजन प्राप्ती करें निर्वाण की।।

इसप्रकार व्यवहारनय निश्चयनय के द्वारा निषिद्ध जानो तथा निश्चय नय के आश्रित मुनिराज निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

(२७३ से २७५)

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतव जिणवरेहि पण्णत्तं।
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु।।
मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज।
पाठो ण करेदि गुणं असद्दहंतस्स णाणं तु।।
सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि।
धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं।।

व्रत-समिति-गुप्ती-शील-तप आदिक सभी जिनवरकथित।
करते हुए भी अभव्यजन अज्ञानि मिथ्यादृष्टि हैं।।
मोक्ष के श्रद्धान बिन सब शास्त्र पढ़कर भी अभवि।
को पाठ गुण करता नहीं है ज्ञान के श्रद्धान बिन।।

अभव्यजन श्रद्धा करें रुचि धरें अर रच-पच रहें।
जो धर्म भोग निमित्त हैं न कर्मक्षय में निमित्त जो।।

जिनवरदेव के द्वारा कहे गये व्रत, समिति, गुप्ति, शील और तप करते हुए भी अभव्यजीव अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि है। मोक्ष की श्रद्धा से रहित वह अभव्यजीव यद्यपि शास्त्रों को पढ़ता है; तथापि ज्ञान की श्रद्धा से रहित उसको शास्त्रपठन गुण नहीं करता। तात्पर्य यह है कि शास्त्रपठन से उसे असली लाभ प्राप्त नहीं होता।

वह अभव्यजीव भोग के निमित्तरूप धर्म की ही श्रद्धा करता है, उसकी ही प्रतीति करता है, उसी की रुचि करता है और उसी का स्पर्श करता है; किन्तु कर्मक्षय के निमित्त रूप धर्म की वह न तो श्रद्धा करता है, न रुचि करता है, न प्रतीति करता है और न वह उसका स्पर्श ही करता है।

(२७६-२७७)

आयारादी णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं।
छज्जीवणिकं च तहा भणदि चरित्तं तु व्यवहारो।।
आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च।
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो।।

जीवादि का श्रद्धान दर्शन शास्त्र-अध्ययन ज्ञान है।
चारित्र है षट्काय रक्षा – यह कथन व्यवहार है।।
निज आतमा ही ज्ञान है दर्शन चरित भी आतमा।
अर योग संवर और प्रत्याख्यान भी है आतमा।।

आचारांगादि शास्त्र ज्ञान है, जीवादि तत्त्व दर्शन है और छह जीवनिकाय चारित्र है – ऐसा व्यवहारनय कहता है।

निश्चय से मेरा आत्मा ही ज्ञान है, मेरा आत्मा ही दर्शन है, मेरा आत्मा ही चारित्र है, मेरा आत्मा ही प्रत्याख्यान है और मेरा आत्मा ही संवर व योग है।

(२७८-२७९)

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रागमादीहिं।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं।।
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रागमादीहिं।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं।।

ज्यों लालिमामय स्वयं परिणत नहीं होता फटिकमणि।
पर लालिमायुत द्रव्य के संयोग से हो लाल वह।।
त्यों ज्ञानिजन रागादिमय परिणत न होते स्वयं ही।
रागादि के ही उदय से वे किये जाते रागमय।।

जिसप्रकार स्फटिकमणि शुद्ध होने से रागादिरूप से, लालिमारूप से अपने आप परिणमित नहीं होता; परन्तु अन्य लालिमादि युक्त द्रव्यों से वह लाल किया जाता है।

उसीप्रकार ज्ञानी अर्थात् आत्मा शुद्ध होने से अपने आप रागादि रूप नहीं परिणमता; परन्तु अन्य रागादि दोषों से वह रागादि रूप किया जाता है।

(२८०)

ण य रागदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसिं भावाणं।।

ना स्वयं करता मोह एवं राग-द्वेष-कषाय को।
इसलिए ज्ञानी जीव कर्ता नहीं है रागादि का।।

ज्ञानी राग-द्वेष-मोह अथवा कषायभावों में अपनापन नहीं करता; इसकारण वह उन भावों का कारक नहीं है अर्थात् कर्ता नहीं है।

(२८१-२८२)

रागम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणमंतो रागादि बंधदि पुणो वि।।

रागम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणमंतो रागादी बंधदे चेदा।।

राग-द्वेष-कषाय कर्मों के उदय में भाव जो।
उनरूप परिणत जीव फिर रागादि का बंधन करे।।
राग-द्वेष-कषाय कर्मों के उदय में भाव जो।
उनरूप परिणत आतमा रागादि का बंधन करे।।

राग-द्वेष और कषाय कर्मों के होने पर अर्थात् उनके उदय होने पर जो भाव होते हैं; उनरूप परिणमित होता हुआ अज्ञानी रागादि को पुनः पुनः बाँधता है।

राग-द्वेष और कषाय कर्मों के होने पर अर्थात् उनके उदय होने पर जो भाव होते हैं; उनरूप परिणमित हुआ आत्मा रागादि को बाँधता है।

(२८३ से २८५)

अप्पडिकमणं दुविहं अपच्चखाणं तहेव विण्णेयं।
एदेणुवदेसेण य अकारगो वण्णिदो चेदा।।
अप्पडिकमणं दुविहं दव्वे भावे अपच्चखाणं पि।
एदेणुवदेसेण य अकारगो वण्णिदो चेदा।।
जावं अप्पडिकमणं अपच्चखाणं च दव्वभावाणं।
कुव्वदि आदा तावं कत्ता सो होदि णादव्वो।।

है द्विविध अप्रतिक्रमण एवं द्विविध है अत्याग भी।
इसलिए जिनदेव ने अकारक कहा है आतमा।।
अत्याग अप्रतिक्रमण दोनों द्विविध हैं द्रवभाव से।
इसलिए जिनदेव ने अकारक कहा है आतमा।।
द्रवभाव से अत्याग अप्रतिक्रमण होवें जबतलक।
तबतलक यह आतमा कर्ता रहे - यह जानना।।

अप्रतिक्रमण दो प्रकार का है। इसीप्रकार अप्रत्याख्यान भी दो प्रकार का जानना चाहिए। इस उपदेश से आत्मा अकारक कहा गया है।

अप्रतिक्रमण दो प्रकार का है – द्रव्यसंबंधी अप्रतिक्रमण और भावसंबंधी अप्रतिक्रमण। इसीप्रकार अप्रत्याख्यान भी दो प्रकार का है – द्रव्यसंबंधी अप्रत्याख्यान और भावसंबंधी अप्रत्याख्यान। इस उपदेश से आत्मा अकारक कहा गया है।

जबतक आत्मा द्रव्य का और भाव का अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान करता है; तबतक वह कर्ता होता है – ऐसा जानना चाहिए।

(२८६-२८७)

आधाकम्मादीया पोग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कह ते कुव्वदि णाणी परदव्वगुणा दु जे णिच्चं।।
आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गलमयं इमं दव्वं।
कह तं मम होदि कयं जं णिच्चमचेदणं वुत्तं।।

अध:कर्मक आदि जो पुद्गल दरब के दोष हैं।
परद्रव्य के गुणरूप उनको ज्ञानिजन कैसे करें ?।।
उद्देशिक अध:कर्म जो पुद्गल दरबमय अचेतन।
कहे जाते वे सदा मेरे किये किस भाँति हों?।।

अध:कर्मादि जो पुद्गल द्रव्य के दोष हैं; उन्हें ज्ञानी (आत्मा) कैसे करे ? क्योंकि वे तो सदा ही परद्रव्य के गुण हैं।

पुद्गलद्रव्यमय अध:कर्म और उद्देशिक मेरे किये कैसे हो सकते हैं? क्योंकि वे सदा अचेतन कहे गये हैं। •

(सोरठा)

अग्निरूप न होय, सूर्यकान्तमणि सूर्य बिन।
रागरूप न होय, यह आतम परसंग बिन।।१७५।।

– समयसार कलश पद्यानुवाद

(८)

मोक्षाधिकार

(२८८ से २९०)

जह णाम को वि पुरिसो बंधणयम्हि चिरकालपडिबद्धो।
तिव्वं मंदसहावं कालं च वियाणदे तस्स।।
जइ ण वि कुणदि च्छेदं ण मुच्चदे तेण बंधणवसो सं।
कालेण उ बहुगेण वि ण सो णरो पावदि विमोक्खं।।
इय कम्मबंधणाणं पदेसठिइपयडिमेवमणुभागं।
जाणंतो वि ण मुच्चदि मुच्चदि सो चेव जदि सुद्धो।।

कोई पुरुष चिरकाल से आबद्ध होकर बंध के।
तीव्र-मन्दस्वभाव एवं काल को हो जानता।।
किन्तु यदि वह बंध का छेदन न कर छूटे नहीं।
तो वह पुरुष चिरकाल तक निज मुक्ति को पाता नहीं।।
इस ही तरह प्रकृति प्रदेश स्थिति अर अनुभाग को।
जानकर भी नहीं छूटे शुद्ध हो तब छूटता।।

जिसप्रकार बहुत काल से बंधन में बँधा हुआ कोई पुरुष उस बंधन के तीव्रमंदस्वभाव को, उसकी कालावधि को तो जानता है; किन्तु उस बंधन को काटता नहीं है तो वह उससे मुक्त नहीं होता तथा बंधन में रहता हुआ वह पुरुष बहुत काल में भी बंधन से छूटनेरूप मुक्ति को प्राप्त नहीं करता।

उसीप्रकार यह आत्मा कर्मबंधनों के प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग को जानता हुआ भी कर्मबंधन से नहीं छूटता; किन्तु यदि रागादि को दूर कर वह स्वयं शुद्ध होता है तो कर्मबंधन से छूट जाता है।

(२९१ से २९३)

जह बंधे चिंतंतो बंधणबद्धो ण पावदि विमोक्खं।
तह बंधे चिंतंतो जीवो वि ण पावदि विमोक्खं।।
जह बंधे छेत्तूण य बंधणबद्धो दु पावदि विमोक्खं।
तह बंधे छेत्तूण य जीवो संपावदि विमोक्खं।।
बंधाणं च सहावं वियाणिदुं अप्पणो सहावं च।
बंधेसु जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुणदि।।

चिन्तवन से बंध के ज्यों बँधे जन ना मुक्त हों।
त्यों चिन्तवन से बंध के सब बँधे जीव न मुक्त हों।।
छेदकर सब बंधनों को बद्धजन ज्यों मुक्त हों।
त्यों छेदकर सब बंधनों को बद्धजिय सब मुक्त हों।।
जो जानकर निजभाव निज में और बंधस्वभाव को।
विरक्त हों जो बंध से वे जीव कर्मविमुक्त हों।।

जिसप्रकार बंधनों से बँधा हुआ पुरुष बंधों का विचार करने से बंधों से मुक्त नहीं होता; उसीप्रकार जीव भी बंधों के विचार करने से मुक्ति को प्राप्त नहीं करता।

जिसप्रकार बंधनबद्धपुरुष बंधों को छेदकर मुक्त होता है; उसीप्रकार जीव भी बंधों को छेदकर मुक्ति को प्राप्त करता है।

बंधों के स्वभाव को और आत्मा के स्वभाव को जानकर जो जीव बंधों के प्रति विरक्त होता है; वह कर्मों से मुक्त होता है।

(२९४)

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
पण्णाछेदणएण दु छिण्णा णाणत्तमावण्णा।।

जीव एवं बंध निज-निज लक्षणों से भिन्न हों।
दोनों पृथक् हो जायें प्रज्ञाछैनि से जब छिन्न हों।।

जीव तथा बंध नियत स्वलक्षणों से छेदे जाते हैं। प्रज्ञारूपी छैनी से छेदे जाने पर वे नानात्व (भिन्नपने) को प्राप्त होते हैं।

(२९५-२९६)

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
बंधो छेददव्वो सुद्धा अप्पा य घेत्तव्वो।।
कह सो घिप्पदि अप्पा पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा।
जह पण्णाइ विभत्तो तह पण्णाएव घेत्तव्वो।।

जीव एवं बंध निज-निज लक्षणों से भिन्न हों।
बंध को है छेदना अर ग्रहण करना आतमा।।
जिस भाँति प्रज्ञाछैनी से पर से विभक्त किया इसे।
उस भाँति प्रज्ञाछैनी से ही अरे ग्रहण करो इसे।।

इसप्रकार जीव और बंध अपने निश्चित स्वलक्षणों द्वारा छेदे जाते हैं। ऐसा करके बंध को छोड़ देना चाहिए और आत्मा को ग्रहण करना चाहिए।

वह आत्मा कैसे ग्रहण किया जाये ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं कि उसे प्रज्ञा से ही ग्रहण किया जाता है। जिसप्रकार प्रज्ञा से भिन्न किया; उसीप्रकार प्रज्ञा से ग्रहण करना चाहिए।

(२९७ से २९९)

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा।।
पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णादव्वा।।
पण्णाए घित्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णादव्वा।।

इस भाँति प्रज्ञा ग्रहे कि मैं हूँ वही जो चेतता।
अवशेष जो हैं भाव वे मेरे नहीं यह जानना।।

इस भाँति प्रज्ञा ग्रहे कि मैं हूँ वही जो देखता।
अवशेष जो हैं भाव वे मेरे नहीं यह जानना॥
इस भाँति प्रज्ञा ग्रहे कि मैं हूँ वही जो जानता।
अवशेष जो हैं भाव वे मेरे नहीं यह जानना॥

प्रज्ञा के द्वारा इसप्रकार ग्रहण करना चाहिए कि जो चेतनेवाला है, वह निश्चय से मैं ही हूँ। शेष सभी भाव मेरे से भिन्न ही हैं।

प्रज्ञा के द्वारा इसप्रकार ग्रहण करना चाहिए कि जो देखनेवाला है, वह निश्चय से मैं ही हूँ; शेष जो भाव हैं, वे मुझसे पर हैं – ऐसा जानना चाहिए।

प्रज्ञा के द्वारा इसप्रकार ग्रहण करना चाहिए कि जो जाननेवाला है, वह निश्चय से मैं ही हूँ; शेष जो भाव हैं, वे मुझसे पर हैं – ऐसा जानना चाहिए।

(३००)

को णाम भणिज्ज बुहो णादुं सव्वे पराइए भावे।
मज्झमिणं ति य वयणं जाणंतो अप्पयं सुद्धं॥

निज आतमा को शुद्ध अर पररूप पर को जानता।
है कौन बुध जो जगत में परद्रव्य को अपना कहे॥

अपने शुद्ध आत्मा को जाननेवाला और सर्व परभावों को पर जानने वाला कौन ज्ञानी ऐसा होगा कि जो यह कहेगा कि ये परपदार्थ मेरे हैं ?

तात्पर्य यह है कि कोई भी समझदार व्यक्ति यह नहीं कहता कि परपदार्थ मेरे हैं तो फिर आत्मज्ञानी व्यक्ति ऐसी बात कैसे कह सकता है ?

(३०१ से ३०३)

थेयादी अवराहे जो कुव्वदि सो उ संकिदो भमइ।
मा बज्झेज्जं केण वि चोरी त्ति जणम्हि वियरंतो॥
जो ण कुणदि अवराह सो णिस्संको दु जणवदि भमदि।
ण वि तस्स बज्झिदुं जे चिंता उप्पज्जदि कयाइ॥

एवम्हि सावराहो बज्झामि अहं तु संकिदो चेदा।
जइ पुण णिरावराहो णिस्संकोहं ण बज्झामि।।

अपराध चौर्यादिक करें जो पुरुष वे शंकित रहें।
कि चोर है यह जानकर कोई मुझे ना बाँध ले।।
अपराध जो करता नहीं निःशंक जनपद में रहे।
बँध जाऊँगा ऐसी कभी चिन्ता न उसके चित रहे।।
अपराधि जिय 'मैं बँधूँगा' इसतरह नित शंकित रहे।
पर निरपराधी आतमा भयरहित है निःशंक है।।

जो पुरुष चोरी आदि अपराध करता है, वह 'कोई मुझे चोर समझकर पकड़ न ले' – इसप्रकार शंकित होता हुआ लोक में घूमता है।

जो पुरुष अपराध नहीं करता है, वह लोक में निःशंक घूमता है; क्योंकि उसे बँधने की चिन्ता कभी भी उत्पन्न नहीं होती।

इसीप्रकार अपराधी आत्मा 'मैं अपराधी हूँ, इसलिए मैं बँधूँगा' – इसप्रकार शंकित होता है और यदि वह निरपराध हो तो 'मैं नहीं बँधूँगा' – इसप्रकार निःशंक होता है।

(३०४-३०५)

संसिद्धिराधसिद्धं साधियमाराधियं च एयट्ठं।
अवगदराधो जो खलु चेदा सो होदि अवराधो।।
जो पुण णिरावराधो चेदा णिस्संकिओ उ सो होइ।
आराहणाइ णिच्चं वट्टेइ अहं ति जाणंतो।।

साधित अराधित राध अर संसिद्धि सिद्धि एक है।
बस राध से जो रहित है वह आतमा अपराध है।।
निरपराध है जो आतमा वह आतमा निःशंक है।
'मैं शुद्ध हूँ' – यह जानता आराधना में रत रहे।।

संसिद्धि, राध, सिद्ध, साधित और आराधित – ये शब्द एकार्थवाची

हैं। जो आत्मा अपगतराध है अर्थात् राध से रहित है; वह आत्मा अपराध है।

और जो आत्मा निरपराध है, वह नि:शंक होता है। ऐसा आत्मा ही मैं हूँ – ऐसा जानता हुआ आत्मा सदा आराधना में वर्तता है।

(३०६-३०७)

पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होदि विसकुंभो।।
अप्पडिकमणप्पडिसरणं अप्परिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदागरहासोही अमयकुंभो।।

प्रतिक्रमण अर प्रतिसरण परिहार निवृत्ति धारणा।
निन्दा गरहा और शुद्धि अष्टविध विषकुंभ हैं।।
अप्रतिक्रमण अप्रतिसरण अर अपरिहार अधारणा।
अनिन्दा अनिवृत्त्यशुद्धि अगर्हा अमृतकुंभ हैं।।

प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि – ये आठ प्रकार के विषकुंभ हैं; क्योंकि इनमें कर्तृत्वबुद्धि संभवित है।

अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्धि – ये आठ प्रकार के अमृतकुंभ हैं; क्योंकि इनमें कर्तृत्वबुद्धि का निषेध है। ●

(रोला)

बंध-छेद से मुक्त हुआ यह शुद्ध आतमा,
निजरस से गंभीर धीर परिपूर्ण ज्ञानमय।
उदित हुआ है अपनी महिमा में महिमामय,
अचल अनाकुल अज अखण्ड यह ज्ञानदिवाकर।।१९२।।

नित्य उद्योतवाली सहज अवस्था से स्फुरायमान, सम्पूर्णत: शुद्ध और एकाकार निजरस की अतिशयता से अत्यन्त धीर-गंभीर पूर्णज्ञान कर्मबंध के छेद से अतुल अक्षय मोक्ष का अनुभव करता हुआ सहज ही प्रकाशित हो उठा और स्वयं की अचल महिमा में लीन हो गया। – समयसार कलश पद्यानुवाद

९

सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार

(३०८ से ३११)

दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं ।
जह कडयादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह ।।
जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिदा सुत्ते ।
तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्णं वियाणाहि ।।
ण कुदोचि वि उप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो आदा ।
उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण स होदि ।।
कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि ।
उप्पज्जंति य णियमा सिद्धी दु ण दीसदे अण्णा ।।

है जगत में कटकादि गहनों से सुवर्ण अनन्य ज्यों।
जिन गुणों में जो द्रव्य उपजे उनसे जान अनन्य त्यों।।
जीव और अजीव के परिणाम जो जिनवर कहे।
वे जीव और अजीव जानो अनन्य उन परिणाम से।।
ना करे पैदा किसी को बस इसलिए कारण नहीं।
किसी से ना हो अत: यह आतमा कारज नहीं।।
कर्म आश्रय होय कर्ता कर्ता आश्रय कर्म भी।
यह नियम अन्यप्रकार से सिद्धि न कर्ता-कर्म की।।

जिसप्रकार जगत में कड़ा आदि पर्यायों से सोना अनन्य है; उसीप्रकार जो द्रव्य जिन गुणों से उत्पन्न होता है, उसे उन गुणों से अनन्य जानो।

जीव और अजीव के जो परिणाम सूत्र में बताये गये हैं; उन परिणामों से जीव या अजीव को अनन्य जानो।

यह आतमा किसी से उत्पन्न नहीं हुआ; इसकारण किसी का कार्य

नहीं है और किसी को उत्पन्न नहीं करता; इसकारण किसी का कारण भी नहीं है।

कर्म के आश्रय से कर्ता होता है और कर्ता के आश्रय से कर्म उत्पन्न होते हैं; अन्य किसी भी प्रकार से कर्ता-कर्म की सिद्धि नहीं देखी जाती।

(३१२-३१३)

चेदा दु पयडीअट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ।
पयडी वि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ।।
एवं बंधो उ दोण्हं पि अण्णोण्णप्पच्चया हवे।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायदे।।

उत्पन्न होता नष्ट होता जीव प्रकृति निमित्त से।
उत्पन्न होती नष्ट होती प्रकृति जीव निमित्त से।।
यों परस्पर निमित्त से हो बंध जीव रु कर्म का।
बस इसतरह ही उभय से संसार की उत्पत्ति हो।।

चेतन आत्मा प्रकृति के निमित्त से उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। इसीप्रकार प्रकृति भी चेतन आत्मा के निमित्त से उत्पन्न होती है और नष्ट होती है। इसप्रकार परस्पर निमित्त से आत्मा और प्रकृति दोनों का बंध होता है और उससे संसार होता है।

(३१४-३१५)

जा एस पयडीअट्ठं चेदा णेव विमुञ्चए।
अयाणओ हवे ताव मिच्छादिट्ठी असंजओ।।
जदा विमुञ्चए चेदा कम्मफलमणंतयं।
तदा विमुत्तो हवदि जाणओ पासओ मुणी।।

जबतक न छोड़े आतमा प्रकृति निमित्तक परिणमन।
तबतक रहे अज्ञानि मिथ्यादृष्टि एवं असंयत।।
जब अनन्ता कर्म का फल छोड़ दे यह आतमा।
तब मुक्त होता बंध से सद्दृष्टि ज्ञानी संयमी।।

जबतक यह आत्मा प्रकृति के निमित्त से उपजना-विनशना नहीं छोड़ता; तबतक वह अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है, असंयत है।

जब यह आत्मा अनंत कर्मफल छोड़ता है; तब वह ज्ञायक है, ज्ञानी है, दर्शक है, मुनि है और विमुक्त है अर्थात् बंध से रहित है।

(३१६)

अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिदो दु वेदेदि।
णाणी पुण कम्मफलं जाणदि उदिदं ण वेदेदि।।

प्रकृतिस्वभावस्थित अज्ञजन ही नित्य भोगें कर्मफल।
पर नहीं भोगें विज्ञजन वे जानते हैं कर्मफल।।

अज्ञानी प्रकृति के स्वभाव में स्थित रहता हुआ कर्मफल को वेदता है, भोगता है और ज्ञानी तो उदय में आये हुए कर्मफल को मात्र जानता है, भोगता नहीं।

(३१७-३१८)

ण मुयदि पयडिमभव्वो सुट्ठु वि अज्झाइदूण सत्थाणि।
गुडदुद्धं पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा होंति।।
णिव्वेयसमावण्णो णाणी कम्मप्फलं वियाणेदि।
महुरं कडुयं बहुविहमवेयओ तेण सो होइ।।

गुड़-दूध पीता हुआ भी निर्विष न होता सर्प ज्यों।
त्यों भलीभाँति शास्त्र पढ़कर अभवि प्रकृति न तजे।।
निर्वेद से सम्पन्न ज्ञानी मधुर-कड़वे नेक विध।
वे जानते हैं कर्मफल को हैं अवेदक इसलिए।।

जिसप्रकार गुड़ से मिश्रित मीठे दूध को पीते हुए भी सर्प निर्विष नहीं होते; उसीप्रकार शास्त्रों का भलीभाँति अध्ययन करके भी अभव्य जीव प्रकृतिस्वभाव नहीं छोड़ता।

किन्तु अनेकप्रकार के मीठे-कड़वे कर्मफलों को जानने के कारण निर्वेद (वैराग्य) को प्राप्त ज्ञानी उनका अवेदक ही है।

(३१९-३२०)

ण वि कुव्वइ ण वि वेयइ णाणी कम्माइं बहुपयाराइं।
जाणइ पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च।।
दिट्ठी जहेव णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव।
जाणइ य बंधमोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव।।

ज्ञानी करे-भोगे नहीं बस सभी विध-विध करम को।
वह जानता है कर्मफल बंध पुण्य एवं पाप को।।
ज्यों दृष्टि त्यों ही ज्ञान जग में है अकारक अवेदक।
जाने करम के बंध उदय मोक्ष एवं निर्जरा।।

अनेक प्रकार के कर्मों को न तो ज्ञानी करता ही है और न भोगता ही है; किन्तु पुण्य-पाप रूप कर्मबंध को और कर्मफल को मात्र जानता ही है। जिसप्रकार दृष्टि (नेत्र) दृश्य पदार्थों को देखती ही है, उन्हें करती-भोगती नहीं है; उसीप्रकार ज्ञान भी अकारक व अवेदक है और बंध, मोक्ष, कर्मोदय और निर्जरा को मात्र जानता ही है।

(३२१ से ३२३)

लोयस्स कुणदि विण्हू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते।
समणाणं पि य अप्पा जदि कुव्वदि छव्विहे काऐ।।
लोयसमणाणमेयं सिद्धंतं जइ ण दीसदि विसेसो।
लोयस्स कुणइ विण्हू समणाण वि अप्पओ कुणदि।।
एवं ण को वि मोक्खो दीसदि लोयसमणाणं दोण्हं पि।
णिच्चं कुव्वंताणं सदेवमणुयासुरे लोए।।

जगत-जन यों कहें विष्णु करे सुर-नरलोक को।
रक्षा करूँ षट्काय की यदि श्रमण भी माने यही।।
तो ना श्रमण अर लोक के सिद्धान्त में अन्तर रहा।
सम मान्यता में विष्णु एवं आतमा कर्ता रहा।।

इसतरह कर्तृत्व से नित ग्रसित लोक रु श्रमण को।
रे मोक्ष दोनों का दिखाई नहीं देता है मुझे॥

लौकिकजनों के मत में देव, नारकी, तिर्यंच और मनुष्य रूप प्राणियों को विष्णु करता है और यदि श्रमणों के मत में भी छहकाय के जीवों को आत्मा करता हो तो फिर तो लौकिकजनों और श्रमणों का एक ही सिद्धान्त हो गया; क्योंकि उन दोनों की मान्यता में हमें कोई भी अन्तर दिखाई नहीं देता। लोक के मत में विष्णु करता है और श्रमणों के मत में आत्मा करता है। इसप्रकार दोनों की कर्तृत्व संबंधी मान्यता एक जैसी ही हुई। इसप्रकार देव, मनुष्य और असुरलोक को सदा करते हुए ऐसे वे लोक और श्रमण – दोनों का ही मोक्ष दिखाई नहीं देता।

(३२४ से ३२७)

ववहारभासिदेण दु परदव्वं मम भणंति अविदिदत्था।
जाणंति णिच्छएण दु ण य मह परमाणुमित्तमवि किंचि॥
जह को वि णरो जंपदि अम्हं गामविसयणयररट्ठं।
ण य होंति जस्स ताणि दु भणदि य मोहेण सो अप्पा॥
एमेव मिच्छदिट्ठी णाणी णीसंसयं हवदि एसो।
जो परदव्वं मम इदि जाणंतो अप्पयं कुणदि॥
तम्हा ण मे त्ति णच्चा दोण्ह वि एदाण कत्तविवसायं।
परदव्वे जाणंतो जाणेज्जो दिट्ठिरहिदाणं॥

अतत्त्वविद् व्यवहार ग्रह परद्रव्य को अपना कहें।
पर तत्त्वविद् जाने कि पर परमाणु भी मेरा नहीं॥
ग्राम जनपद राष्ट्र मेरा कहे कोई जिसतरह।
किन्तु वे उसके नहीं हैं मोह से ही वह कहे॥
इसतरह जो 'परद्रव्य मेरा' – जानकर अपना करे।
संशय नहीं वह ज्ञानि मिथ्यादृष्टि ही है जानना॥
'मेरे नहीं ये' – जानकर तत्त्वज्ञ ऐसा मानते।
है अज्ञता कर्तृत्वबुद्धि लोक एवं श्रमण की॥

वस्तुस्वरूप को नहीं जाननेवाले पुरुष व्यवहार कथन को ही परमार्थ रूप से ग्रहण करके ऐसा कहते हैं कि परद्रव्य मेरा है; परन्तु ज्ञानीजन निश्चय से ऐसा जानते हैं कि परमाणुमात्र परपदार्थ मेरा नहीं है।

जिसप्रकार कोई मनुष्य इसप्रकार कहता है कि हमारा ग्राम, हमारा देश, हमारा नगर और हमारा राष्ट्र है; किन्तु वे उसके नहीं हैं; वह मोह से ही ऐसा कहता है कि वे मेरे हैं।

इसीप्रकार यदि कोई ज्ञानी भी परद्रव्य को निजरूप करता है, परद्रव्य को निजरूप मानता है, जानता है तो ऐसा जानता हुआ वह निःसंदेह मिथ्यादृष्टि है।

इसलिए परद्रव्य मेरे नहीं हैं – यह जानकर तत्त्वज्ञानीजन लोक और श्रमण – दोनों के पर-द्रव्य में कर्तृत्व के व्यवसाय को सम्यग्दर्शन रहित पुरुषों का व्यवसाय ही जानते हैं।

(३२८ से ३३१)

मिच्छत्तं जदि पयडी मिच्छादिट्ठी करेदि अप्पाणं।
तम्हा अचेदणा ते पयडी णणु कारगो पत्तो।।
अहवा एसो जीवो पोग्गलदव्वस्स कुणदि मिच्छत्तं।
तम्हा पोग्गलदव्वं मिच्छादिट्ठी ण पुण जीवो।।
अह जीवो पयडी तह पोग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं।
तम्हा दोहिं कदं तं दोण्णि वि भुंजंति तस्स फलं।।
अह ण पयडी ण जीवो पोग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्तं।
तम्हा पोग्गलदव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा।।

मिथ्यात्व नामक प्रकृति मिथ्यात्वी करे यदि जीव को।
फिर तो अचेतन प्रकृति ही कर्तापने को प्राप्त हो।।
अथवा करे यह जीव पुद्गल दरब के मिथ्यात्व को।
मिथ्यात्वमय पुद्गल दरब ही सिद्ध होगा जीव ना।।

यदि जीव प्रकृति उभय मिल मिथ्यात्वमय पुद्गल करे।
फल भोगना होगा उभय को उभयकृत मिथ्यात्व का।।
यदि जीव प्रकृति ना करें मिथ्यात्वमय पुद्गल दरब।
मिथ्यात्वमय पुद्गल सहज, क्या नहीं यह मिथ्या कहो ?।।

मोहनीयकर्म की मिथ्यात्व नामक कर्मप्रकृति आत्मा को मिथ्यादृष्टि करती है, बनाती है – यदि ऐसा माना जाये तो तुम्हारे मत में अचेतनप्रकृति जीव के मिथ्यात्वभाव की कर्ता हो गई। इसकारण मिथ्यात्वभाव भी अचेतन सिद्ध होगा।

अथवा यह जीव पुद्गलद्रव्यरूप मिथ्यात्व को करता है – यदि ऐसा माना जाये तो पुद्गल द्रव्य मिथ्यादृष्टि सिद्ध होगा, जीव नहीं।

अथवा जीव और प्रकृति – दोनों मिलकर पुद्गलद्रव्य को मिथ्यात्वभावरूप करते हैं – यदि ऐसा माना जाये तो जो कार्य दोनों के द्वारा किया गया, उसका फल दोनों को ही भोगना होगा।

अथवा पुद्गलद्रव्य को मिथ्यात्वभावरूप न तो प्रकृति करती है और न जीव करता है अर्थात् दोनों में से कोई भी नहीं करता है – यदि ऐसा माना जाये तो पुद्गलद्रव्य स्वभाव से ही मिथ्यात्वभावरूप सिद्ध होगा। क्या यह वास्तव में मिथ्या नहीं है ?

इससे यही सिद्ध होता है कि अपने मिथ्यात्वभाव का कर्ता जीव स्वयं ही है।

(३३२ से ३४४)

कम्मेहि दु अण्णाणी किज्जदि णाणी तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहि सुवाविज्जदि जग्गाविज्जदि तहेव कम्मेहिं।।
कम्मेहि सुहाविज्जदि दुक्खाविज्जदि तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहि य मिच्छत्तं णिज्जदि णिज्जदि असंजमं चेव।।
कम्मेहि भमाडिज्जदि उड्ढमहो चावि तिरियलोयं च।
कम्मेहि चेव किज्जदि सुहासुहं जेत्तियं किंचि।।

जम्हा कम्मं कुव्वदि कम्मं देदि हरदि त्ति जं किंचि।
तम्हा उ सव्वजीवा अकारगा होंति आवण्णा।।
पुरिसित्थियाहिलासी इत्थीकम्मं च पुरिसमहिलसदि।
एसा आयरियपरंपरागदा एरिसी दु सुदी।।
तम्हा ण को वि जीवो अबंभचारी दु अम्ह उवदेसे।
जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं अहिलसदि इदि भणिदं।।
जम्हा घादेदि परं परेण घादिज्जदे य सा पयडी।
एदेणत्थेण किर भण्णदि परघादणामेत्ति।।
तम्हा ण को वि जीवो वघादेओ अत्थि अम्ह उवदेसे।
जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं घादेदि इवि भणिदं।।
एवं संखुवएसं जे उ परूवेंति एरिसं समणा।
तेसिं पयडी कुव्वदि अप्पा य अकारगा सव्वे।।
अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणदि।
एसो मिच्छसहावो तुम्हं एयं मुणंतस्स।।
अप्पा णिच्चोऽसंखेज्जपदेसो देसिदो दु समयम्हि।
ण वि सो सक्कदि तत्तो हीणो अहिओ य कादुं जे।।
जीवस्स जीवरूवं वित्थरदो जाण लोगमेत्तं खु।
तत्तो सो किं हीणो अहिओ य कहं कुणदि दव्वं।।
अह जाणगो दु भावो णाणसहावेण अच्छदे त्ति मदं।
तम्हा ण वि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणदि।।

कर्म अज्ञानी करे अर कर्म ही ज्ञानी करे।
जिय को सुलावे कर्म ही अर कर्म ही जाग्रत करे।।
कर्म करते सुखी एवं दुःखी करते कर्म ही।
मिथ्यात्वमय कर्महि करे अर असंयमी भी कर्म ही।।

कर्म ही जिय भ्रमाते हैं ऊर्ध्व-अध-तिरलोक में।
जो कुछ जगत में शुभ-अशुभ वह कर्म ही करते रहें।।
कर्म करते कर्म देते कर्म हरते हैं सदा।
यह सत्य है तो सिद्ध होंगे अकारक सब आतमा।।
नरवेद है महिलाभिलाषी नार चाहे पुरुष को।
परम्परा आचार्यों से बात यह श्रुतपूर्व है।।
अब्रह्मचारी नहीं कोई हमारे उपदेश में।
क्योंकि ऐसा कहा है कि कर्म चाहे कर्म को।।
जो मारता है अन्य को या मारा जावे अन्य से।
परघात नामक कर्म की ही प्रकृति का यह काम है।।
परघात करता नहीं कोई हमारे उपदेश में।
क्योंकि ऐसा कहा है कि कर्म मारे कर्म को।।
सांख्य के उपदेशसम जो श्रमण प्रतिपादन करें।
कर्ता प्रकृति उनके यहाँ पर है अकारक आतमा।।
या मानते हो यह कि मेरा आतमा निज को करे।
तो यह तुम्हारा मानना मिथ्यास्वभावी जानना।।
क्योंकि आतम नित्य है एवं असंख्य-प्रदेशमय।
ना उसे इससे हीन अथवा अधिक करना शक्य है।।
विस्तार से भी जीव का जीवत्व लोकप्रमाण है।
ना होय हीनाधिक कभी कैसे करे जिय द्रव्य को।।
यदी माने रहे ज्ञायकभाव ज्ञानस्वभाव में।
तो भी आतम स्वयं अपने आतमा को ना करे।।

जीव कर्मों द्वारा अज्ञानी किया जाता है और कर्मों द्वारा ही ज्ञानी भी किया जाता है, कर्मों द्वारा सुलाया जाता है और कर्मों द्वारा ही जगाया जाता है, कर्मों द्वारा ही सुखी किया जाता है और कर्मों द्वारा ही दुःखी किया जाता है; कर्म ही उसे मिथ्यात्व को प्राप्त कराते हैं और कर्म ही

असंयमी बनाते हैं। इस जीव को कर्मों द्वारा ही ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक का भ्रमण कराया जाता है। अधिक क्या कहें, जो कुछ भी शुभ और अशुभ है, वह सब कर्म ही करते हैं। इसप्रकार कर्म ही करता है, कर्म ही देता है और कर्म ही हर लेता है; जो कुछ भी करता है, वह सब कर्म ही करता है। इसप्रकार सभी जीव सर्वथा अकारक ही सिद्ध होते हैं।

पुरुषवेद कर्म स्त्री का अभिलाषी है और स्त्रीवेद कर्म पुरुष की अभिलाषा करता है – ऐसी यह आचार्यों की परम्परागत श्रुति है। इसप्रकार हमारे उपदेश में तो कोई भी जीव अब्रह्मचारी नहीं है; क्योंकि कर्म ही कर्म की अभिलाषा करता है – ऐसा कहा है।

जो पर को मारता है और जो पर के द्वारा मारा जाता है; वह प्रकृति है, जिसे परघात नामक कर्म कहा जाता है। इसलिए हमारे उपदेश में कोई जीव उपघातक (मारनेवाला) नहीं है; क्योंकि कर्म ही कर्म को मारता है – ऐसा कहा गया है।

ऐसे सांख्यमत का उपदेश जो श्रमण (जैन मुनि) प्ररूपित करते हैं, उनके मत में प्रकृति ही करती है; आत्मा तो पूर्णतः अकारक है – ऐसा सिद्ध होता है।

अथवा यदि तुम यह मानते हो कि मेरा आत्मा अपने द्रव्यरूप आत्मा को करता है तो तुम्हारा यह मानना मिथ्या है; क्योंकि सिद्धान्त में आत्मा को नित्य और असंख्यातप्रदेशी बताया गया है, वह उससे हीन या अधिक नहीं हो सकता और विस्तार की अपेक्षा भी जीव को जीवरूप निश्चय से लोकमात्र जाने; क्या वह उससे हीन या अधिक होता है; यदि नहीं तो फिर वह द्रव्य को कैसे करता है ?

अथवा ज्ञायकभाव तो ज्ञानस्वभाव में स्थित रहता है – यदि ऐसा माना जाये तो इससे आत्मा स्वयं अपने आत्मा को नहीं करता – यह सिद्ध होगा।

(३४५ से ३४८)

केहिंचि दु पज्जएहिं विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो।
जम्हा तम्हा कुव्वदि सो वा अण्णो व णेयंतो।।
केहिंचि दु पज्जएहिं विंणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो।
जम्हा तम्हा वेददि सो वा अण्णो व णेयंतो।।
जो चेव कुणदि सो चिय ण वेदए जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो।।
अण्णो करेदि अण्णो परिभुंजदि जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो।।

यह आतमा हो नष्ट कुछ पर्याय से कुछ से नहीं।
जो भोगता वह करे अथवा अन्य यह एकान्त ना।।
यह आतमा हो नष्ट कुछ पर्याय से कुछ से नहीं।
जो करे भोगे वही अथवा अन्य यह एकान्त ना।।
जो करे, भोगे नहीं वह; सिद्धान्त यह जिस जीव का।
वह जीव मिथ्यादृष्टि आर्हतमत विरोधी जानना।।
कोई करे कोई भरे यह मान्यता जिस जीव की।
वह जीव मिथ्यादृष्टि आर्हतमत विरोधी जानना।।

क्योंकि जीव कितनी ही पर्यायों से नष्ट होता है और कितनी ही पर्यायों से नष्ट नहीं होता है; इसलिए जो भोगता है, वही करता है या अन्य ही करता है – ऐसा एकान्त नहीं है।

क्योंकि जीव कितनी ही पर्यायों से नष्ट होता है और कितनी ही पर्यायों से नष्ट नहीं होता है; इसलिए जो करता है, वही भोगता है अथवा अन्य ही भोगता है – ऐसा एकान्त नहीं है।

जो करता है, वह नहीं भोगता – ऐसा जिसका सिद्धान्त है; वह जीव मिथ्यादृष्टि है और अरहन्त के मत के बाहर है, अनार्हत मतवाला है – ऐसा जानना चाहिए।

अन्य करता है और उससे अन्य भोगता है – ऐसा जिसका सिद्धान्त है; वह जीव मिथ्यादृष्टि है और अरहन्त के मत के बाहर है, अनार्हत मतवाला है। – ऐसा जानना चाहिए।

(३४९ से ३५५)

जह सिप्पिओ दु कम्मं कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो वि य कम्मं कुव्वदि ण य तम्मओ होदि।।
जह सिप्पिओ दु करणेहिं कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो करणेहिं कुव्वदि ण य तम्मओ होदि।।
जह सिप्पिओ दु करणाणि गिण्हदि ण सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो करणाणि दु गिण्हदि ण य तम्मओ होदि।।
जह सिप्पि दु कम्मफलं भुंजदि ण सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो कम्मफलं भुंजदि ण य तम्मओ होदि।।
एवं ववहारस्स दु वत्तव्वं दरिसणं समासेण।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकदं तु जं होदि।।
जह सिप्पिओ दु चेट्ठं कुव्वदि हवदि य तहा अणण्णो से।
तह जीवो वि य कम्मं कुवदि हवदि य अणण्णो से।।
जह चेट्ठं कुव्वंतो दु सिप्पिओ णिच्चदुक्खिओ होदि।
तत्तो सिया अणण्णो तह चेट्ठंतो दुही जीवो।।

ज्यों शिल्पि कर्म करे परन्तु कर्ममय वह ना बने।
त्यों जीव कर्म करे परन्तु कर्ममय वह ना बने।।
ज्यों शिल्पि करणों से करे पर करणमय वह ना बने।
त्यों जीव करणों से करे पर करणमय वह ना बने।।
ज्यों शिल्पि करणों को ग्रहे पर करणमय वह ना बने।
त्यों जीव करणों को ग्रहे पर करणमय वह ना बने।।
ज्यों शिल्पि भोगे कर्मफल तन्मय परन्तु होय ना।
त्यों जीव भोगे कर्मफल तन्मय परन्तु होय ना।।

संक्षेप में व्यवहार का यह कथन दर्शाया गया।
अब सुनो परिणाम विषयक कथन जो परमार्थ का॥
शिल्पी करे जो चेष्टा उससे अनन्य रहे सदा।
जीव भी जो करे वह उससे अनन्य रहे सदा॥
चेष्टा में मगन शिल्पी नित्य ज्यों दुःख भोगता।
यह चेष्टा रत जीव भी त्यों नित्य ही दुःख भोगता॥

जिसप्रकार शिल्पी (कलाकार-सुनार) कुण्डल आदि कार्य (कर्म) करता है; किन्तु कुण्डलादि को बनाते समय वह उनसे तन्मय नहीं होता, उनरूप नहीं होता; उसीप्रकार जीव भी पुण्य-पापादि पुद्गल कर्मों को करता है; परन्तु उनसे तन्मय नहीं होता, उनरूप नहीं होता।

जिसप्रकार शिल्पी हथौड़ा आदि करणों (साधनों) से कर्म करता है; परन्तु वह उनसे तन्मय नहीं होता; उसीप्रकार जीव मन-वचन-कायरूप करणों से कर्म करता है; परन्तु उनसे तन्मय नहीं होता।

जिसप्रकार शिल्पी करणों को ग्रहण करता है, परन्तु उनसे तन्मय नहीं होता; उसीप्रकार जीव करणों को ग्रहण करता है, पर उनसे तन्मय (करणमय) नहीं होता।

जिसप्रकार शिल्पी कुण्डल आदि कर्म के फल को भोगता है; परन्तु वह उससे तन्मय नहीं होता; उसीप्रकार जीव भी पुण्य-पापादि पुद्गलकर्म के फल को भोगता है; परन्तु तन्मय (पुद्गलपरिणामरूप सुख-दुःखादिमय) नहीं होता।

इसप्रकार व्यवहार का मत संक्षेप में दर्शाया। अब परिणाम विषयक निश्चय का मत (मान्यता) सुनो।

जिसप्रकार शिल्पी चेष्टारूप कर्म करता है और वह उससे अनन्य है; उसीप्रकार जीव भी अपने परिणामरूप कर्म को करता है और वह जीव उस अपने परिणामरूप कर्म से अनन्य है।

जिसप्रकार चेष्टारूप कर्म करता हुआ शिल्पी नित्य दुःखी होता है;

उसीप्रकार अपने परिणामरूप चेष्टा को करता हुआ जीव भी दुःखी होता है, दुःख से अनन्य है।

(३५६ से ३६५)

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह जाणगो दु ण परस्स जाणगो जाणगो सो दु।।
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह पासगो दु ण परस्स पासगो पासगो सो दु।।
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह संजदो दु ण परस्स संजदो संजदो सो दु।।
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तं तु।।
एवं तु णिच्छयणयस्स भासिदं णाणदंसणचरित्ते।
सुणु ववहारणयस्य य वत्तव्वं से समासेण।।
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं जाणदि णादा वि सएण भावेण।।
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं पस्सदि जीवो वि सएण भावेण।।
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं विजहदि णादा वि सएण भावेण।।
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं सद्दहदि सम्मदिट्ठी सहावेण।।
एवं ववहारस्स दु विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते।
भणिदो अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णादव्वो।।

ज्यों कलई नहीं है अन्य की यह कलई तो बस कलई है।
ज्ञायक नहीं त्यों अन्य का ज्ञायक तो बस ज्ञायक ही है।।

ज्यों कलई नहीं है अन्य की यह कलई तो बस कलई है।
दर्शक नहीं त्यों अन्य का दर्शक तो बस दर्शक ही है॥
ज्यों कलई नहीं है अन्य की यह कलई तो बस कलई है।
संयत नहीं त्यों अन्य का संयत तो बस संयत ही है॥
ज्यों कलई नहीं है अन्य की यह कलई तो बस कलई है।
दर्शन नहीं त्यों अन्य का दर्शन तो बस दर्शन ही है॥
यह ज्ञान-दर्शन-चरण विषयक कथन है परमार्थ का।
अब सुनो अतिसंक्षेप में तुम कथन नय व्यवहार का॥
परद्रव्य को ज्यों श्वेत करती कलई स्वयं स्वभाव से।
बस त्योंहि ज्ञाता जानता परद्रव्य को निजभाव से॥
परद्रव्य को ज्यों श्वेत करती कलई स्वयं स्वभाव से।
बस त्योंहि दृष्टा देखता परद्रव्य को निजभाव से॥
परद्रव्य को ज्यों श्वेत करती कलई स्वयं स्वभाव से।
बस त्योंहि ज्ञाता त्यागता परद्रव्य को निजभाव से॥
परद्रव्य को ज्यों श्वेत करती कलई स्वयं स्वभाव से।
सुदृष्टि त्यों ही श्रद्धता परद्रव्य को निजभाव से॥
यह ज्ञान-दर्शन-चरण विषयक कथन है व्यवहार का।
अर अन्य पर्यय विषय में भी इसतरह ही जानना॥

यद्यपि व्यवहार से परद्रव्यों का और आत्मा का ज्ञेय-ज्ञायक संबंध है; दृश्य-दर्शक संबंध है, त्याज्य-त्याजक संबंध है; तथापि निश्चय से तो वस्तुस्थिति इसप्रकार है -

जिसप्रकार सेटिका अर्थात् खड़िया मिट्टी या पोतने का चूना या कलई पर (दीवाल) की नहीं है; क्योंकि सेटिका (कलई) तो सेटिका ही है; उसीप्रकार ज्ञायक आत्मा तो ज्ञेयरूप परद्रव्यों का नहीं है, ज्ञायक तो ज्ञायक ही है।

जिसप्रकार कलई पर की नहीं है, कलई तो कलई ही है; उसीप्रकार दर्शक पर का नहीं है, दर्शक तो दर्शक ही है।

जिसप्रकार कलई पर की नहीं है, कलई तो कलई ही है; उसीप्रकार संयत (पर का त्याग करनेवाला) पर का नहीं है, संयत तो संयत ही है।

जिसप्रकार कलई पर की नहीं है, कलई तो कलई ही है; उसीप्रकार दर्शन (श्रद्धान) पर का नहीं है, दर्शन तो दर्शन ही है अर्थात् श्रद्धान तो श्रद्धान ही है।

इसप्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र के संदर्भ में निश्चयनय का कथन है और अब उस संबंध में संक्षेप से व्यवहारनय का कथन सुनो।

जिसप्रकार कलई अपने स्वभाव से दीवाल आदि परद्रव्यों को सफेद करती है; उसीप्रकार ज्ञाता भी अपने स्वभाव से परद्रव्यों को जानता है।

जिसप्रकार कलई अपने स्वभाव से दीवाल आदि परद्रव्यों को सफेद करती है; उसीप्रकार जीव अपने स्वभाव से परद्रव्यों को देखता है।

जिसप्रकार कलई अपने स्वभाव से दीवाल आदि परद्रव्यों को सफेद करती है; उसीप्रकार ज्ञाता भी अपने स्वभाव से परद्रव्यों को त्यागता है।

जिसप्रकार कलई अपने स्वभाव से दीवाल आदि परद्रव्यों को सफेद करती है; उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि अपने स्वभाव से परद्रव्यों का श्रद्धान करता है।

इसप्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र में व्यवहारनय का निर्णय कहा है। अन्य पर्यायों में भी इसीप्रकार जानना चाहिए।

(३६६ से ३७१)

दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेदणे विसए।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु विसएसु।।
दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेदणे कम्मे।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तम्हि कम्मम्हि।।
दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेदणे काए।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु काएसु।।

णाणस्स दंसणस्स य भणिदो घादो तहा चरित्तस्स।
ण वि तहिं पोग्गलदव्वस्स को वि घादो दु णिद्दिट्ठो।।
जीवस्स जे गुणा केइ णत्थि खलु ते परेसु दव्वेसु।
तम्हा सम्मादिट्ठिस्स णत्थि रागो दु विसएसु।।
रागो दोसो मोहो जीवस्सेव य अणण्णपरिणामा।
एदेण कारणेण दु सद्दादिसु णत्थि रागादी।।

ज्ञान-दर्शन-चरित ना किंचित् अचेतन विषय में।
इसलिए यह आतमा क्या कर सके उस विषय में।।
ज्ञान-दर्शन-चरित ना किंचित् अचेतन कर्म में।
इसलिए यह आतमा क्या कर सके उस कर्म में।।
ज्ञान-दर्शन-चरित ना किंचित् अचेतन काय में।
इसलिए यह आतमा क्या कर सके उस काय में।।
सद्ज्ञान का सम्यक्त्व का उपघात चारित्र कां कहा।
अन्य पुद्गल द्रव्य का ना घात किंचित् भी कहा।।
जीव के जो गुण कहे वे हैं नहीं परद्रव्य में।
बस इसलिए सद्दृष्टि को है राग विषयों में नहीं।।
अनन्य हैं परिणाम जिय के राग-द्वेष-विमोह ये।
बस इसलिए शब्दादि विषयों में नहीं रागादि ये।।

दर्शन, ज्ञान और चारित्र अचेतन विषयों में किंचित्मात्र भी नहीं हैं, इसलिए आत्मा उन विषयों में क्या घात करेगा ?

इसीप्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र अचेतन कर्मों में भी किंचित्मात्र नहीं हैं; इसलिए आत्मा उन कर्मों में भी क्या घात करेगा ?

इसीप्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र अचेतन काय में भी किंचित्मात्र नहीं हैं; इसलिए आत्मा उन कायों में भी क्या घात करेगा ?

जहाँ दर्शन, ज्ञान और चारित्र का घात कहा है; वहाँ पुद्गलद्रव्य का

किंचित्मात्र भी घात नहीं कहा है। तात्पर्य यह है कि दर्शन, ज्ञान और चारित्र के घात होने पर पुद्गलद्रव्य का घात नहीं होता।

इसप्रकार जो जीव के गुण हैं; वे वस्तुतः परद्रव्य में नहीं हैं; इसलिए सम्यग्दृष्टि का विषयों के प्रति राग नहीं होता।

और राग-द्वेष-मोह जीव के ही अनन्य परिणाम हैं; इसकारण रागादिक शब्दादि विषयों में नहीं हैं।

(३७२)

अण्णदविएण अण्णदवियस्स णो कीरए गुणुप्पाओ।
तम्हा दु सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण।।

गुणोत्पादन द्रव्य का कोई अन्य द्रव्य नहीं करे।
क्योंकि सब ही द्रव्य निज-निज भाव से उत्पन्न हों।।

अन्य द्रव्य से अन्य द्रव्य के गुणों की उत्पत्ति नहीं की जा सकती है; इससे यह सिद्धान्त प्रतिफलित होता है कि सर्व द्रव्य अपने-अपने स्वभाव से उत्पन्न होते हैं।

(३७३ से ३८२)

णिंदिदसंथुदवयणाणि पोग्गला परिणमंति बहुगाणि।
ताणि सुणिदूण रूसदि तूसदि य पुणो अहं भणिदो।।
पोग्गलदव्वं सद्दत्तपरिणदं तस्स जदि गुणो अण्णो।
तम्हा ण तुमं भणिदो किंचि वि किं रूससि अबुद्धो।।
असुहो सुहो व सद्दो ण तं भणदि सुणसु मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं सोदविसयमागदं सद्दं।।
असुहं सुहं व रूवं ण तं भणदि पेच्छ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं चक्खुविसयमागदं रूवं।।
असुहो सुहो व गंधो ण तं भणदि जिग्घ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं घाणविसयमागदं गंधं।।

असुहो सुहो व रसो ण तं भणदि रसय मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं रसणविसयमागदं तु रसं।।
असुहो सुहो व फासो ण तं भणदि फुस्सु मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं कायविसयमागदं फासं।।
असुहो सुहो व गुणो ण तं भणदि बुज्झ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं बुद्धिविसयमागदं तु गुणं।।
असुहं सुहं व दव्वं ण तं भणदि बुज्झ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं बुद्धिविसयमागदं दव्वं।।
एयं तु जाणिऊणं उवसमं णेव गच्छदे मूढो।
णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो।।

स्तवन निन्दा रूप परिणत पुद्गलों को श्रवण कर।
मुझको कहे यह मान तोष-रु-रोष अज्ञानी करें।।
शब्दत्व में परिणमित पुद्गल द्रव्य का गुण अन्य है।
इसलिए तुम से ना कहा तुष-रुष्ट होते अबुध क्यों?।।
शुभ या अशुभ ये शब्द तुझसे ना कहें कि हमें सुन।
अर आतमा भी कर्णगत शब्दों के पीछे ना भगे।।
शुभ या अशुभ यह रूप तुझसे ना कहे कि हमें लख।
यह आतमा भी चक्षुगत वर्णों के पीछे ना भगे।।
शुभ या अशुभ यह गंध तुम सूँघो मुझे यह ना कहे।
यह आतमा भी घ्राणगत गंधों के पीछे ना भगे।।
शुभ या अशुभ यह सरस रस यह ना कहे कि हमें चख।
यह आतमा भी जीभगत स्वादों के पीछे ना भगे।।
शुभ या अशुभ स्पर्श तुझसे ना कहें कि हमें छू।
यह आतमा भी कायगत स्पर्शों के पीछे ना भगे।।
शुभ या अशुभ गुण ना कहें तुम हमें जानो आत्मन्।
यह आतमा भी बुद्धिगत सुगुणों के पीछे ना भगे।।

शुभ या अशुभ द्रव्य ना कहें तुम हमें जानो आत्मन्।
यह आतमा भी बुद्धिगत द्रव्यों के पीछे ना भगे।।
यह जानकर भी मूढ़जन ना ग्रहें उपशमभाव को।
मंगलमती को ना ग्रहें पर के ग्रहण का मन करें।।

पौद्‌गलिक भाषावर्गणायें बहुत प्रकार से निन्दारूप और स्तुतिरूप वचनों में परिणमित होती हैं। उन्हें सुनकर अज्ञानी जीव 'ये वचन मुझसे कहे गये हैं' – ऐसा मानकर रुष्ट (नाराज) होते हैं और तुष्ट (प्रसन्न) होते हैं।

शब्दरूप परिणमित पुद्‌गलद्रव्य और उसके गुण यदि तुझसे भिन्न हैं तो हे अज्ञानी जीव ! तुझसे तो कुछ भी नहीं कहा गया, फिर भी तू रोष क्यों करता है ?

शुभ या अशुभ शब्द तुझसे यह नहीं कहते कि तू हमें सुन और आत्मा भी अपने स्थान से च्युत होकर कर्ण इन्द्रिय के विषय में आये हुए शब्दों को ग्रहण करने (जानने) को नहीं जाता।

इसीप्रकार शुभ या अशुभ रूप यह नहीं कहता कि मुझे देख और आत्मा भी चक्षु इन्द्रिय के विषय में आये हुए रूप को ग्रहण करने नहीं जाता।

शुभ और अशुभ गंध भी तुझसे यह नहीं कहती कि तू मुझे सूँघ और आत्मा भी घ्राण इन्द्रिय के विषय में आयी हुई गंध को ग्रहण करने नहीं जाता।

इसीप्रकार शुभ या अशुभ रस तुझसे यह नहीं कहते कि तुम हमें चखो और आत्मा भी रसना इन्द्रिय के विषय में आये हुए रसों को ग्रहण करने नहीं जाता।

शुभ या अशुभ स्पर्श तुझसे यह नहीं कहते कि तुम हमें स्पर्श करो और आत्मा भी स्पर्शन इन्द्रिय के विषय में आये हुए स्पर्शों को ग्रहण करने नहीं जाता।

इसीप्रकार शुभ या अशुभ गुण तुझसे यह नहीं कहते कि तू हमें जान और आत्मा भी बुद्धि के विषय में आये हुए गुणों को ग्रहण करने नहीं जाता।

शुभ या अशुभ द्रव्य तुझसे यह नहीं कहते कि तू हमें जान और आत्मा भी बुद्धि के विषय में आये हुए द्रव्यों को ग्रहण करने नहीं जाता।

ऐसा जानकर भी यह मूढ़ जीव उपशमभाव को प्राप्त नहीं होता और कल्याणकारी बुद्धि को – सम्यग्ज्ञान को प्राप्त न होता हुआ स्वयं परपदार्थों को ग्रहण करने का मन करता है।

(३८३ से ३८६)

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।
तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं।।
कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावम्हि बज्झदि भविस्सं।
तत्तो णियत्तदे जो सो पच्चक्खाणं हवदि चेदा।।
जं सुहमसुहमुदिण्णं संपडि य अणेयवित्थरविसेसं।
तं दोसं जो चेददि सो खलु आलोयणं चेदा।।
णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वदि णिच्चं पडिक्कमदि जो य।
णिच्चं आलोचेयदि सो हु चरित्तं हवदि चेदा।।

शुभ-अशुभ कर्म अनेकविध हैं जो किये गतकाल में।
उनसे निवर्तन जो करे वह आतमा प्रतिक्रमण है।।
बँधेंगे जिस भाव से शुभ-अशुभ कर्म भविष्य में।
उससे निवर्तन जो करे वह जीव प्रत्याख्यान है।।
शुभ-अशुभ भाव अनेकविध हो रहे सम्प्रति काल में।
इस दोष का ज्ञाता रहे वह जीव है आलोचना।।
जो करें नित प्रतिक्रमण एवं करें नित आलोचना।
जो करें प्रत्याख्यान नित चारित्र हैं वे आतमा।।

जो पूर्वकाल में किये गये अनेक प्रकार के ज्ञानावरणादि शुभाशुभकर्मों से स्वयं के आत्मा को दूर रखता है, वह आत्मा प्रतिक्रमण है।

जिस भाव से भविष्यकालीन शुभाशुभकर्म बँधता है, उस भाव से निवृत्त होनेवाला आत्मा प्रत्याख्यान है।

वर्तमानकालीन उदयागत अनेक प्रकार के विस्तारवाले शुभाशुभकर्मों के दोष को चेतने वाला–छोड़नेवाला आत्मा आलोचना है।

जो सदा प्रत्याख्यान करता है, सदा प्रतिक्रमण करता है और सदा आलोचना करता है; वह आत्मा वस्तुत: चारित्र है।

(३८७ से ३८९)

वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं कुणदि जो दु कम्मफलं।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं।।
वेदंतो कम्मफलं मए कदं मुणदि जो दु कम्मफलं।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं।।
वेदंतो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं।।

जो कर्मफल को वेदते निजरूप मानें करमफल।
हैं बाँधते वे जीव दु:ख के बीज वसुविध करम को।।
जो कर्मफल को वेदते मानें करमफल मैं किया।
हैं बाँधते वे जीव दु:ख के बीज वसुविध करम को।।
जो कर्मफल को वेदते हों सुखी अथवा दु:खी हों।
हैं बाँधते वे जीव दु:ख के बीज वसुविध करम को।।

जो आत्मा कर्म के फल का वेदन करता हुआ कर्म के फल को निजरूप करता है अर्थात् उसमें एकत्वबुद्धि करता है; वह आत्मा दु:ख के बीजरूप आठ प्रकार के कर्मों को पुन: बाँधता है।

जो आत्मा कर्म के फल का वेदन करता हुआ ऐसा जानता–मानता है कि मैंने कर्मफल किया; वह आत्मा दु:ख के बीजरूप आठ प्रकार के कर्मों को पुन: बाँधता है।

कर्म के फल का वेदन करता हुआ जो आत्मा सुखी-दु:खी होता है; वह आत्मा दु:ख के बीजरूप आठ प्रकार के कर्मों को बाँधता है।

(३९० से ४०४)

सत्थं णाणं ण हवदि जम्हा सत्थं ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा बेंति॥
सद्दो णाणं ण हवदि जम्हा सद्दो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा बेंति॥
रूवं णाणं ण हवदि जम्हा रूवं ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा बेंति॥
वण्णो णाणं ण हवदि जम्हा वण्णो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा बेंति॥
गंधो णाणं ण हवदि जम्हा गंधो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा बेंति॥
ण रसो दु हवदि णाणं जम्हा दु रसो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं रसं च अण्णं जिणा बेंति॥
फासो ण हवदि णाणं जम्हा फासो य याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा बेंति॥
कम्मं णाणं ण हवदि जम्हा कम्मं ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा बेंति॥
धम्मो णाणं ण हवदि जम्हा धम्मो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा बेंति॥
णाणमधम्मो ण हवदि जम्हाधम्मो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णमधम्मं जिणा बेंति॥
कालो णाणं ण हवदि जम्हा कालो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कालं जिणा बेंति॥

आयासं पि ण णाणं जम्हायासं ण याणदे किंचि।
तम्हायासं अण्णं अण्णं णाणं जिणा बेंति।।
णज्झवसाणं णाणं अज्झवसाणं अचेदणं जम्हा।
तम्हा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं।।
जम्हा जाणदि णिच्चं तम्हा जीवो दु जाणगो णाणी।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं।।
णाणं सम्मादिट्ठिं दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं।
धम्माधम्मं च तहा पव्वज्जं अब्भुवंति बुहा।।

शास्त्र ज्ञान नहीं है क्योंकि शास्त्र कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही शास्त्र अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें।।
शब्द ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही शब्द अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें।।
रूप ज्ञान नहीं है क्योंकि रूप कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही रूप अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें।।
वर्ण ज्ञान नहीं है क्योंकि वर्ण कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही वर्ण अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें।।
गंध ज्ञान नहीं है क्योंकि गंध कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही गंध अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें।।
रस नहीं है ज्ञान क्योंकि रस भी कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही रस अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें।।
स्पर्श ज्ञान नहीं है क्योंकि स्पर्श कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही स्पर्श अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें।।
कर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि कर्म कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही कर्म अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें।।
धर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि धर्म कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही धर्म अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें।।

अधर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि अधर्म कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही अधर्म अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें॥
काल ज्ञान नहीं है क्योंकि काल कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही काल अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें॥
आकाश ज्ञान नहीं है क्योंकि आकाश कुछ जाने नहीं।
बस इसलिए ही आकाश अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें॥
अध्यवसान ज्ञान नहीं है क्योंकि वे अचेतन जिन कहे।
इसलिए अध्यवसान अन्य रु ज्ञान अन्य श्रमण कहें॥
नित्य जाने जीव बस इसलिए ज्ञायकभाव है।
है ज्ञान अव्यतिरिक्त ज्ञायकभाव से यह जानना॥
ज्ञान ही समदृष्टि संयम सूत्र पूर्वगतांग भी।
सद्धर्म और अधर्म दीक्षा ज्ञान हैं – यह बुध कहें॥

शास्त्र ज्ञान नहीं है; क्योंकि शास्त्र कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और शास्त्र अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं।

शब्द ज्ञान नहीं है; क्योंकि शब्द कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और शब्द अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं।

रूप ज्ञान नहीं है; क्योंकि रूप कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और रूप अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं।

वर्ण ज्ञान नहीं है; क्योंकि वर्ण कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और वर्ण अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं।

गंध ज्ञान नहीं है; क्योंकि गंध कुछ जानती नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और गंध अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं।

रस ज्ञान नहीं है; क्योंकि रस कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और रस अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं।

स्पर्श ज्ञान नहीं है; क्योंकि स्पर्श कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और स्पर्श अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं।

कर्म ज्ञान नहीं है; क्योंकि कर्म कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और कर्म अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं।

धर्म ज्ञान नहीं है; क्योंकि धर्म कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और धर्म अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं।

अधर्म ज्ञान नहीं है; क्योंकि अधर्म कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और अधर्म अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं।

काल ज्ञान नहीं है; क्योंकि काल कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और काल अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं।

आकाश ज्ञान नहीं है; क्योंकि आकाश कुछ जानता नहीं है; इसलिए ज्ञान अन्य है और आकाश अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं।

अध्यवसान ज्ञान नहीं है; क्योंकि अध्यवसान अचेतन है; इसलिए ज्ञान अन्य है और अध्यवसान अन्य है – ऐसा जिनदेव कहते हैं।

चूँकि जीव निरन्तर जानता है; इसलिए यह ज्ञायक जीव ज्ञानी है, ज्ञानस्वरूप है और ज्ञान ज्ञायक से अव्यतिरिक्त है, अभिन्न है – ऐसा जानना चाहिए।

बुधजन (ज्ञानीजन) ज्ञान को ही सम्यग्दृष्टि, संयम, अंगपूर्वगत सूत्र, धर्म-अधर्म (पुण्य-पाप) और दीक्षा मानते हैं।

(४०५ से ४०७)

अत्ता जस्सामुत्तो ण हु सो आहारगो हवदि एवं।
आहारो खलु मुत्तो जम्हा सो पोग्गलमओ दु।।
ण वि सक्कदि घेत्तुं जं ण विमोत्तुं जं च जं परद्दव्वं।
सो को वि य तस्स गुणो पाउगिओ विस्ससो वा वि।।
तम्हा दु जों विसुद्धो चेदा सो णेव गेण्हदे किंचि।
णेव विमुंचदि किंचि वि जीवाजीवाण दव्वाणं।।

आहार पुद्गलमयी है बस इसलिए है मूर्तिक।
ना अहारक इसलिए ही यह अमूर्तिक आतमा।।

परद्रव्य का ना ग्रहण हो ना त्याग हो इस जीव के।
क्योंकि प्रायोगिक तथा वैस्रसिक स्वयं गुण जीव के।।
इसलिए यह शुद्धातमा पर जीव और अजीव से।
कुछ भी ग्रहण करता नहीं कुछ भी नहीं है छोड़ता।।

इसप्रकार जिसका आत्मा अमूर्तिक है, वह वस्तुतः आहारक नहीं है; क्योंकि आहार पुद्‌गलमय होने से मूर्तिक है।

परद्रव्य को न तो छोड़ा जा सकता है और न ही ग्रहण किया जा सकता है; क्योंकि आत्मा के कोई ऐसे ही प्रायोगिक और वैस्रसिक गुण हैं।

इसलिए विशुद्धात्मा जीव और अजीव परद्रव्यों से कुछ भी ग्रहण नहीं करते और न छोड़ते ही हैं।

(४०८ से ४११)

पासंडीलिंगाणि व गिहिलिंगाणि व बहुप्पयाराणि।
घेत्तुं वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गो त्ति।।
ण दु होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा।
लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेवंति।।
ण वि एस मोक्खमग्गो पासंडीगिहिमयाणि लिंगाणि।
दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा बेंति।।
तम्हा जहित्तु लिंगे सागारणगारएहिं वा गहिदे।
दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे।।

ग्रहण कर मुनिलिंग या गृहिलिंग विविध प्रकार के।
यह लिंग ही है मुक्तिमग यह कहें कतिपय मूढ़जन।।
पर मुक्तिमग ना लिंग क्योंकि लिंग तज अरिहंत जिन।
निज आत्म अरु सद्-ज्ञान-दर्शन-चरित का सेवन करें।।
बस इसलिए गृहिलिंग या मुनिलिंग ना मग मुक्ति का।
जिनवर कहें बस ज्ञान-दर्शन-चरित ही मग मुक्ति का।।

बस इसलिए अनगार या सागार लिंग को त्यागकर।
जुड़ जा स्वयं के ज्ञान-दर्शन-चरणमय शिवपंथ में।।

बहुत प्रकार के पाखण्डी (मुनि) लिंगों अथवा गृहस्थ लिंगों को धारण करके मूढ़जन यह कहते हैं कि यह लिंग मोक्षमार्ग है।

परन्तु लिंग मोक्षमार्ग नहीं है; क्योंकि अरिहंतदेव लिंग को छोड़कर अर्थात् लिंग पर से दृष्टि हटाकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करते हैं।

मुनियों और गृहस्थों के लिंग (चिह्न) मोक्षमार्ग नहीं; क्योंकि जिनदेव तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्षमार्ग कहते हैं।

इसलिए गृहस्थों और मुनियों द्वारा ग्रहण किये गये लिंगों को छोड़कर उनमें से एकत्वबुद्धि तोड़कर मोक्षमार्गरूप दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्वयं को लगाओ।

(४१२)

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वसु।।

मोक्षपथ में थाप निज को चेतकर निज ध्यान धर।
निज में ही नित्य विहार कर परद्रव्य में न विहार कर।।

हे भव्य ! तू अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापित कर। तदर्थ अपने आत्मा का ही ध्यान कर, आत्मा में ही चेत, आत्मा का ही अनुभव कर और निज आत्मा में ही सदा विहार कर; परद्रव्यों में विहार मत कर।

(४१३)

पासंडीलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्तिं तेहिं ण णादं समयसारं।।

ग्रहण कर मुनिलिंग या गृहिलिंग विविध प्रकार के।
उनमें करें ममता, न जानें वे समय के सार को।।

जो व्यक्ति बहुत प्रकार के मुनिलिंगों या गृहस्थलिंगों में ममत्व करते

हैं अर्थात् यह मानते हैं कि ये द्रव्यलिंग ही मोक्ष के कारण हैं; उन्होंने समयसार को नहीं जाना।

(४१४)

ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणदि मोक्खपहे।
णिच्छयणओ ण इच्छदि मोक्खपहे सव्वलिंगाणि।।

व्यवहार से ये लिंग दोनों कहे मुक्तीमार्ग में।
परमार्थ से तो नहीं कोई लिंग मुक्तीमार्ग में।।

व्यवहारनय मुनिलिंग और गृहीलिंग – दोनों को ही मोक्षमार्ग कहता है; परन्तु निश्चयनय किसी भी लिंग को मोक्षमार्ग नहीं मानता।

(४१५)

जो समयपाहुडमिणं पढिदूणं अत्थतच्चदो णादुं।
अत्थे ठाही चेदा सो होही उत्तमं सोक्खं।।

पढ़ समयप्राभृत ग्रंथ यह तत्त्वार्थ से जो जानकर।
निज अर्थ में एकाग्र हों वे परमसुख को प्राप्त हों।।

जो आत्मा इस समयप्राभृत को पढ़कर, अर्थ और तत्त्व से जानकर इसके विषयभूत अर्थ में स्वयं को स्थापित करेगा; वह उत्तमसुख (अतीन्द्रिय आनन्द) को प्राप्त करेगा। ●●●

(अनुष्टुभ्)

इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णताम्।
विज्ञानघनमानंदमयमध्यक्षतां नयत्।।२४५।।

(दोहा)

ज्ञानानन्दस्वभाव को, करता हुआ प्रत्यक्ष।
अरे पूर्ण अब हो रहा, यह अक्षय जगचक्षु।।२४५।।

आनन्दमय विज्ञानघन शुद्धात्मारूप समयसार को प्रत्यक्ष करता हुआ यह एक अद्वितीय जगतचक्षु समयसार ग्रन्थाधिराज पूर्णता को प्राप्त हो रहा है।

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

१.	श्रीमती पुष्पलता जैन (जीजीबाई) ध.प. श्री अजितकुमारजी, छिन्दवाड़ा	४१००.००
२.	श्री संजीवजी छाजेड़, विजयनगर	७००.००
३.	श्री शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज	५०१.००
४.	श्री मानकचन्दजी जैन, बैंगलोर	५०१.००
५.	श्री कैलाशचन्दजी जैन, ठाकुरगंज	५०१.००
६.	स्व. बाबूलाल तोतारामजी जैन, भुसावल	५०१.००
७.	श्रीमती मालतीदेवी नथमलजी झांझरी, जयपुर	५००.००
८.	श्री सुबोध धनकुमारजी जैन, मुजफ्फरनगर	५००.००
९.	श्री महेन्द्रकुमारजी जैन, अलवर	५००.००
१०.	श्री काशीप्रसादजी सेठी, कोलकाता	५००.००
११.	श्री अक्षयकुमार प्रेमकुमारी ढावरिया, जयपुर	५००.००
१२.	श्री कमलचन्दजी जैन, अलवर	५००.००
१३.	श्रीमती नीता धर्मपत्नी आनन्दकुमार बरया, ललितपुर	५००.००
१४.	श्री कैलाशचन्दजी जैन, चन्देरी	५००.००
१५.	श्रीमती आशा धर्मपत्नी श्री शान्तिकुमारजी पाटील, जयपुर	५००.००
१६.	श्रीमती सुशीला धर्मपत्नी श्री शान्तिलालजी जैन, अलवर वाले	५००.००
१७.	श्रीमती रानी धर्मपत्नी राजीवजी बंसल, चन्देरी	५००.००
१८.	श्री उमेशजी सर्राफ, चन्देरी	५००.००
१९.	श्री मनोजजी जैन, दिल्ली	४००.००
२०.	श्रीमती पतासी देवी धर्मपत्नी श्री इन्द्रचन्द्रजी पाटनी, लॉडनू	२५१.००
२१.	श्रीमती कंचन देवी धर्मपत्नी श्री चिरंजीलालजी कासलीवाल, सूरत	२५१.००
२२.	श्रीमती पानादेवी धर्मपत्नी श्री मोहनलालजी सेठी, गोहाटी	२५१.००
२३.	श्रीमती श्रीकान्ताबाई धर्मपत्नी श्री पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर	२५१.००
२४.	श्री धर्मेन्द्रकुमार नवीनकुमारजी जैन, दिल्ली	२५१.००
२५.	श्रीमती विमलादेवी धर्मपत्नी सुमेरमलजी पहाड़िया, तिनसुकिया	२५१.००
२६.	श्रीमती नीलू धर्मपत्नी राजेशकुमार मनोहरलालजी काला, इन्दौर	२५१.००
२७.	स्व. धापूदेवी धर्मपत्नी स्व. ताराचन्दजी गंगवाल, जयपुर	२५१.००
२८.	स्व. सोहनदेवी ध.प. तनसुखलालजी पाटनी की पुण्य स्मृति में, जयपुर	२५१.००
२९.	श्री राजकुमारजी जैन मोदी, रायपुर	२०१.००
	कुल :	१५६६३.००

डॉ. भारिल्ल के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१. समयसार : ज्ञायकभावप्रबोधिनी टीका	५०.००
२. समयसार अनुशीलन भाग–१	२५.००
३. समयसार अनुशीलन भाग–२	२०.००
४. समयसार अनुशीलन भाग–३	२०.००
५. समयसार अनुशीलन भाग–४	२०.००
६. समयसार अनुशीलन भाग–५	२५.००
७. समयसार का सार	३०.००
८. गाथा समयसार	१०.००
९. प्रवचनसार : ज्ञानज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी टीका	५०.००
१०. प्रवचनसार अनुशीलन भाग–१	३५.००
११. प्रवचनसार अनुशीलन भाग–२	३५.००
१२. प्रवचनसार अनुशीलन भाग–३	२५.००
१३. प्रवचनसार का सार	३०.००
१४. छहढाला का सार	१५.००
१५. ४७ शक्तियाँ और ४७ नय	८.००
१६. पण्डित टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व	२०.००
१७. परमभावप्रकाशक नयचक्र	२०.००
१८. जिनवरस्य नयचक्रम्	१०.००
१९. चिन्तन की गहराइयाँ	२०.००
२०. तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ	१५.००
२१. धर्म के दशलक्षण	१६.००
२२. क्रमबद्धपर्याय	१५.००
२३. बिखरे मोती	१६.००
२४. सत्य की खोज	२०.००
२५. अध्यात्मनवनीत	१५.००
२६. आप कुछ भी कहो	१२.००
२७. आत्मा ही है शरण	१५.००
२८. सुक्ति-सुधा	१८.००
२९. बारह भावना : एक अनुशीलन	१५.००
३०. दृष्टि का विषय	१०.००
३१. गागर में सागर	७.००
३२. पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव	१०.००
३३. णमोकार महामंत्र : एक अनुशीलन	१०.००
३४. रक्षाबन्धन और दीपावली	५.००
३५. आचार्य कुंदकुंद और उनके पंचपरमागम	५.००

३६. युगपुरुष कानजीस्वामी	५.००
३७. वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	१५.००
३८. मैं कौन हूँ	५.००
३९. निमित्तोपादान	३.५०
४०. अहिंसा : महावीर की दृष्टि में	३.००
४१. मैं स्वयं भगवान हूँ	४.००
४२. रीति-नीति	३.००
४३. शाकाहार	२.५०
४४. भगवान ऋषभदेव	४.००
४५. तीर्थंकर भगवान महावीर	२.५०
४६. चैतन्य चमत्कार	४.००
४७. गोली का जवाब गाली से भी नहीं	२.००
४८. गोम्मटेश्वर बाहुबली	२.००
४९. वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर	२.००
५०. अनेकान्त और स्याद्वाद	२.००
५१. शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखर	१.५०
५२. बिन्दु में सिन्धु	२.५०
५३. पश्चात्ताप खण्डकाव्य	७.००
५४. बारह भावना एवं जिनेंद्र वंदना	२.००
५५. कुंदकुंदशतक पद्यानुवाद	२.५०
५६. शुद्धात्मशतक पद्यानुवाद	१.००
५७. समयसार पद्यानुवाद	३.००
५८. योगसार पद्यानुवाद	०.५०
५९. समयसार कलश पद्यानुवाद	३.००
६०. प्रवचनसार पद्यानुवाद	३.००
६१. द्रव्यसंग्रह पद्यानुवाद	१.००
६२. अष्टपाहुड़ पद्यानुवाद	३.००
६३. अर्चना जेबी	१.००
६४. कुंदकुंदशतक (अर्थ सहित)	१.२५
६५. शुद्धात्मशतक (अर्थ सहित)	१.००
६६. बालबोध पाठमाला भाग-२	३.००
६७. बालबोध पाठमाला भाग-३	३.००
६८. वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-१	४.००
६९. वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-२	४.००
७०. वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-३	४.००
७१. तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-१	५.००
७२. तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-२	६.००

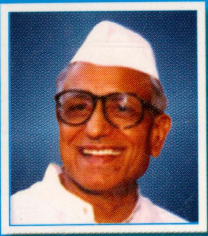

डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल का नाम आज जैन समाज के उच्च कोटि के विद्वानों में अग्रणीय है।

ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी वि. स. 1992 तदनुसार शनिवार, दिनांक 25 मई 1935 को ललितपुर (उ.प्र.) जिले के बरौदास्वामी ग्राम के एक धार्मिक जैन परिवार में जन्मे डॉ. भारिल्ल; शास्त्री, न्यायतीर्थ साहित्यरत्न तथा एम.ए., पी-एच.डी. हैं। समाज द्वारा विद्यावारिधि, महामहोपाध्याय, विद्यावाचस्पति, परमागमविशारद, तत्ववेत्ता, अध्यात्मशिरोमणि, वाणीविभूषण, जैनरत्न, बुन्देलखण्ड गौरव आदि अनेक उपाधियों से समय-समय पर आपको विभूषित किया गया है।

सरल, सुबोध, तर्कसंगत एवं आकर्षक शैली के प्रवचनकार डॉ. भारिल्ल आज सर्वाधिक लोकप्रिय आध्यात्मिक प्रवक्ता हैं। उन्हें सुनने देश-विदेश में हजारों श्रोता निरन्तर उत्सुक रहते हैं। आध्यात्मिक जगत में ऐसा कोई घर न होगा, जहाँ प्रतिदिन आपके प्रवचनों के कैसेट न सुने जाते हों तथा आपका साहित्य उपलब्ध न हो। धर्म प्रचारार्थ आप छब्बीस बार विदेश यात्रायें भी कर चुके हैं।

जैनजगत में सर्वाधिक पढ़े जाने वाले डॉ. भारिल्ल ने अब तक छोटी-बड़ी 72 पुस्तकें लिखी हैं और अनेक ग्रन्थों का सम्पादन किया है, जिनकी सूची अन्दर प्रकाशित की गई। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि अब तक आठ भाषाओं में प्रकाशित आपकी कृतियाँ 42 लाख से भी अधिक की संख्या में जन-जन तक पहुँच चुकी हैं।

सर्वाधिक बिक्री वाले जैन आध्यात्मिक मासिक 'वीतराग-विज्ञान' हिन्दी तथा मराठी के आप सम्पादक हैं। श्री टोडरमल स्मारक भवन की छत के नीचे चलने वाली विभिन्न संस्थाओं की समस्त गतिविधियों के संचालन में आपका महत्वपूर्ण योगदान है।

वर्तमान में आप श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद के अध्यक्ष तथा पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर के महामंत्री हैं।